

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186014

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. *H81*
Author *B59X*

Accession No. *H6562*

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

बिहारी की काव्य कला

लेखक

डॉ० राज किशोर सिंह यादव

हिन्दी विभाग

आगरा कालेज, आगरा

प्रिन्टर

विद्या विहार

८७/४० ए, आचार्य नगर, कानपुर-३

BIHARI KI KAVYA KALA

By Dr. Raj Kishore Singh Yadav

Price : Rupees Thirty only

मूल्य : ३०.००

पुस्तक	बिहारी की काव्य कला
लेखक	डॉ० राज किशोर सिंह यादव
प्रकाशक	किताब घर, कानपुर
संस्करण	प्रथम
मूल्य	तीस रुपये मात्र

विषयानुक्रम

१. बिहारी का जीवन परिचय	१-५
२. बिहारी का जीवन दर्शन	६-९
३. बिहारी और उनका युग	१०-२२
४. रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ	२३-३८
५. रीतिबद्ध एवं रीति मुक्त काव्यशास्त्र	३९-४३
६. बिहारी-रीतिबद्ध या रीतिमुक्त	४४-४८
७. सतसई काव्य-परम्परा	४९-६१
८. मुक्तककार बिहारी	६२-६७
९. कल्पना की समाहार एवं भाषा की समास शक्ति	६८-७२
१०. बिहारी का भाषा-सौन्दर्य	७३-८०
११. बिहारी का अलंकार विधान	८१-८९
१२. चमत्कारवादी बिहारी	९०-९४
१३. बिहारी का छन्द विधान	९५-९७
१४. बिहारी एवं श्रृङ्गार	९८-१००
१५. बिहारों की प्रेम-भावना	१०१-१०५
१६. बिहारी का सौन्दर्य वर्णन	१०६-११२
१७. बिहारी का अनुभाव विधान	११३-१२१
१८. बिहारी का विरह वर्णन	१२२-१३०
१९. बिहारी की भक्ति भावना	१३१-१३९
२०. बिहारी सतसई में नीति	१४०-१४२
२१. बिहारी का प्रकृति चित्रण	१४३-१४७
२२. बिहारी सतसई में प्रतिविम्बित	१४८-१५४
२३. रीतिकालीन काव्य में नारी और समाज	१५५-१६१
२४. बिहारी की लोक-प्रियता	१६२-१६८

बिहारी का जीवन परिचय

हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों में कविवर बिहारी लाल का स्थान मूर्धन्य है, लोकप्रियता की दृष्टि से रीतिकाल का अन्य कोई कवि बिहारी के समकक्ष नहीं है। किन्तु हिन्दी साहित्य के अन्य अधिकांश लोकप्रिय कवियों की भांति महाकवि बिहारी लाल ने अपनी जीवनी का उल्लेख नहीं किया है। इस भावना के मूल में भारतीय आदर्श एवं दृष्टिकोण है। भारतीय कवि, दार्शनिक अथवा कलाकार आत्म विज्ञापन एवं लोक प्रियता की अपेक्षा अपनी कृति को अधिक महत्व देता था, अतः उनके साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि में निहित रहती थी, इसके परिणाम—स्वरूप कवि व कलाकार समाज के चित्रण में ही अपने को विस्मृत कर देता था। बिहारी भी इस प्रवृत्ति से बच नहीं सके।

महाकवि बिहारी ने यद्यपि स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, किन्तु वे अपने समय में इतने लोकप्रिय हो गये थे, कि उनके जीवन काल में ही उनकी रचना पर टीका-टिप्पणियाँ लिखी जाने लगी थीं, और उनके सम्बन्ध में समाज में अनेक प्रकार की किम्वदन्तियाँ एवं कहानियाँ प्रचलित हो गई थीं, और उन किम्वदन्तियों और उनके काव्य के अन्तर-साक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने बिहारीलाल के जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त अन्वेषण किया है। उन विद्वानों में डा० ग्रियर्सन पं० अम्बिकाप्रसाद व्यास, मिश्रबन्धु, जगन्नाथदास रत्नाकर, ज्वालाप्रसाद मिश्र, लाला भगवानदीन, हरिऔध, राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी, शिवसिंह सेंगर, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि महत्वपूर्ण हैं।

जन्म स्थान :—कविवर बिहारीलाल का जन्म-स्थान और जन्मतिथि अत्यधिक विवादास्पद है। राधाचरण गोस्वामी यदि बिहारी का जन्म स्थान मथुरा सिद्ध करते हैं तो मिश्रबन्धु-रामचन्द्र शुक्ल, लाला सीताराम तथा डा० भगीरथ मिश्र ग्वालियर के निकट बसुआ गोविन्दपुर को बिहारी का जन्म स्थान स्वीकार करते हैं। डा० मिश्र ने बसुआ गोविन्दपुर का उल्लेख नहीं किया है। परवर्ती अधिकांश विद्वान् ग्वालियर को ही बिहारी के जन्म भूमि होने का गौरव प्रदान करते हैं। इस मत के मूल में बिहारी लाल लिखित यह दोहा महत्वपूर्ण है। इसके आधार पर उनकी जन्म भूमि ग्वालियर ही सिद्ध होती है—

जनमु ग्वालियर जानियै खण्ड बुन्देले बाल ।

तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल ॥

इस दोहे में तीन बातों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है—बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था। उनका बचपन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ और बिहारीलाल की ससुराल मथुरा थी, और उनका यौवन काल वहीं व्यतीत हुआ। अतः हम कह सकते हैं कि बिहारी का जन्म स्थान ग्वालियर था।

जन्म तिथि :—बिहारी लाल की जन्म तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार “गार्सिदासी” बिहारी को चौदहवीं और सोलहवीं शताब्दी में प्रतिष्ठित करते हैं। ग्रियर्सन महोदय सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उनका जन्म-काल मानते हैं। डा० भगीरथ मिश्र ‘संवत् १६५२; मिश्र-बन्धु तथा रामचन्द्र शुक्ल १६६०, लाला सीताराम १७००-१७२० तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी सन् १६०० अथवा संवत् १६५७ मानते हैं। इनमें तासी महोदय ने स्वयं ही दो जन्मकाल माने हैं और बिहारी को कबीर का समकालीन माना है, यह मत ग्राह्य नहीं है, हाँ उनका दूसरा मत ग्राह्य हो सकता है। किन्तु अधिक ग्राह्य एवं उपयुक्त मत सत्रहवीं शताब्दी वाला है। और आज मान्य विद्वानों ने इस समय को लगभग स्वीकार ही कर लिया है।

बिहारी के जन्मकाल के सम्बन्ध में एक दोहा मिलता है जो कि किसी टीकाकार ने उद्धृत किया है। उसके अनुसार बिहारी का जन्म काल १६५२ संवत् अथवा सन् १५९५ सिद्ध होता है। दोहा इस प्रकार है—

संवत जुग सर रस सहित भूमि रीति गिनि लीन ।

कार्तिक सुदि बुध अष्टमी जनम हमें बिधि दीन ॥

“अङ्कानां वामतोगति” के अनुसार इस दोहे का निष्कर्ष यह है कि जुग=२, सर=५, रस=६ और भूमि=१ अर्थात् १६५२ जन्म संवत् में बिहारी का जन्म हुआ था। दोहे की द्वितीय पंक्ति के अनुसार कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी तिथि और बुधवार के दिन बिहारी का जन्म हुआ था। इस प्रकार बिहारी की जन्म तिथि संवत् १६५२ के कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की अष्टमी और बुधवार के दिन सिद्ध होती है। किन्तु इस दोहे के सम्बन्ध में डा० भगीरथ मिश्र ने लिखा है—कि “दोहा” सतसई की प्रामाणिक प्रतियों में नहीं मिलता और न यह बिहारी का रचा हुआ जान पड़ता है। यह किसी टीकाकार की सूझ जान पड़ती है।”^१ किन्तु आज यह दोहा प्रायः प्रमाण रूप में स्वीकार किया जाता है। जगन्नाथ दास रत्नाकर भी इस

दोहे को स्वीकार करते हुये बिहारी का जन्म संवत् १६५२ मानते हैं।

जाति :—बिहारी लाल की जाति भी विवादास्पद है। किन्तु इतना निश्चित है कि बिहारी लाल ब्राह्मण थे। इस सम्बन्ध में विद्वानों के तीन मत मिलते हैं। पहला मत है—मिश्रबन्धु और लाला सीताराम का जो कि बिहारी को ककोर वंशी माथुर ब्राह्मण बतलाते हैं। दूसरा मत है—डा० ग्रियर्सन, हरिऔध और शिवसिंह सेंगर का जो बिहारी को चौबे मानते हैं। किन्तु तृतीय मत जो कि अधिक तर्क संगत एवं पुष्ट है, उसके अनुसार बिहारी माथुर चौबे ब्राह्मण थे, इस मत के मानने वालों में पं० शुक्ल, डा० द्विवेदी, रत्नाकर, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी हैं।

कुछ विद्वानों ने बिहारी को सनाढ्य ब्राह्मण भी माना है। किन्तु वास्तव में बिहारी माथुर चतुर्वेदी थे।

पिता :—बिहारी लाल के पिता के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद हैं। डा० ग्रियर्सन के मत में बिहारी लाल के पिता का नाम केशवराय या 'केशोराय' था। इस मत की प्रामाणिकता के लिये सतसई का यह दोहा प्रस्तुत किया जाता है—

प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।

मेरे हरौ कलेसु सब केसौ केसौ राइ ॥ (१०१)

“केशोराय” शब्द के आधार पर विद्वान् रीतिकालीन कवि केशवदास को बिहारी का पिता बतलाते हैं, इस विचारधारा के मूल में विज्ञानगीता में केशवदास का वह प्रयोग है जहाँ वे स्वयं को “केशवराय” लिखते हैं। इसके अतिरिक्त बिहारी रीतिकालीन केशवदास के समकालिक भी हैं। किन्तु ग्रियर्सन महोदय पिता का नाम केशवराय मानते हुये भी रीतिकालीन केशवदास को बिहारी का पिता नहीं मानते हैं। पं० अम्बिकादत्त व्यास भी इस मत से सहमत हैं किन्तु उन्होंने बिहारी के पिता का नाम केशव मानते हुये पितामह का नाम ‘राय’ लिखा है। यह मत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा लाला भगवानदीन बिहारी के पिता का नाम केशवराय मानते हैं। मिश्र जी केशवदास को बिहारी का पिता नहीं मानते हैं, उनका कहना है कि “यदि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशवदास होते तो यह बात परम्परा में अवश्य प्रचलित होती, इससे जान पड़ता है कि बिहारी प्रसिद्ध कवि केशव के पुत्र नहीं थे। पर वे किसी अन्य केशव के पुत्र थे, और वे केशव भी अच्छे कवि रहे होंगे।” प्रसिद्ध हिन्दी के इतिहासकार डा० द्विवेदी के अनुसार भी केशव दास (रामचन्द्रिकाकार) बिहारी के पिता नहीं थे। डा० भगीरथ मिश्र का मत है कि उनके पिता केशव थे, जो ‘रामचन्द्रिका’ के ग्रन्थकार केशवदास से सर्वथा भिन्न थे। कुलपति मिश्र (बिहारी के भागिनेय) ने एक छन्द में अपने नाना का इस प्रकार

उल्लेख किया है, और उन्हें भी कवि माना है—

कविवर मातामह सुमिरि, केसव केसवराय ।

कहाँ कथा भारत्य की भाषा-छन्द बनाय ॥

बिहारी चतुर्वेदी माथुर थे, जबकि केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण अतः इन दोनों में पिता पुत्र का सम्बन्ध स्थिर नहीं किया जा सकता है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बिहारी के पिता का नाम केशवराय था वे कवि भी थे, किन्तु रीतिकालीन केशवदास से सर्वथा भिन्न थे ।

परिवार :—बिहारी ग्वालियर निवासी चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम केशवराय था, और पत्नी का नाम रत्नाकर जी के अनुसार महाविद्या था । बिहारी के एक भाई और एक बहिन भी थीं । बहन छोटी थी और भाई बड़े थे । बहिन के पति हरिकृष्ण मिश्र के पुत्र परशुराम थे । बहिन होने की बात कुलपति मिश्र के दोहे से भी पुष्टि होती है । “कुलपति मिश्र बिहारी के भानजे थे । उनके पिता का नाम परशुराम था ।”^१

बिहारी का विवाह मथुरा में हुआ था, विद्वान् इस सम्बन्ध में प्रायः एकमत हैं और पत्नी रूपवती विदुषी तथा एक सफल कवयित्री भी थीं । सतसई की वर्णार्थ प्रकाशिका” टीका के लेखक देवकी नन्दन ने बिहारी की पत्नी द्वारा रचित चौदह सौ दोहों को स्वीकार किया है—

“चौदह सौ दोहा किये, तिहिं तिय परम प्रबीन ।”

बिहारी के सन्तान उत्पन्न नहीं हुई थी, अतः उन्होंने अपने भाई के एक पुत्र को गोद ले लिया था, उनका नाम ‘निरंजन’ था, इसी निरंजन से बिहारी की वंश परम्परा चलती है ।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका में इस सम्बन्ध में विचार करते हुये लिखा है कि “जनश्रुति बिहारी के एक पुत्र कृष्णलाल का होना मानती है । उन्होंने सतसैय्या पर सवैया वाली टीका लिखी है । रत्नाकर जी का कहना है कि संभवतः निरंजन जी का नाम निरंजन-कृष्ण रहा होगा, क्योंकि बिहारी के वंशजों के नाम में ‘कृष्ण’ शब्द बराबर नाम के अन्त में मिलता है । इस प्रकार के नाम प्रायः खंडित होकर आधे-आधे भी पुकारे जाते हैं । इसीलिये कोई उन्हें ‘निरंजन’ कहता रहा होगा और कोई कृष्ण अन्त में दोनों एक ही व्यक्ति हैं ।”^२

निरंजन की वंश परम्परा में बालकृष्ण नामक एक कवि हुये हैं,

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन) भाग ८ अङ्क १ पृ० ११८

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन) भाग ८ अङ्क २ पृ० १५०

जिन्हें बूंदी के प्रसिद्धि-प्राप्त कवि सूर्यमल ने 'वंशभास्कर' में बिहारी का वंशज कहा है—

‘कवि विप्र बिहारी वंश जात ।

कवि बालकृष्ण प्रभु अन्नपात ॥

शिक्षा-दीक्षा :—बिहारी के पिता स्वयं ही एक कवि थे अतः वे प्रारम्भ से ही अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा के लिए विशेष सजग थे, बिहारी के दीक्षा गुरु नरहरि दास थे, जो कि ओडछा के महन्त थे और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी थे । बिहारी ने केशवदास से भी शिक्षा प्राप्त की थी, इस तथ्य का उद्धाटन डा० भगीरथ मिश्र ने किया है । डा० नगेन्द्र ने हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास (भाग षष्ठ) में केशवदास को बिहारी का गुरु माना है । बिहारी भाषा (हिन्दी), संस्कृत, संगीत तथा विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता थे, उनका अध्ययन तथा ज्ञान व्यापक था, इस तथ्य की पुष्टि उनकी सतसई के अध्ययन से सहज ही होती है ।

यौवन-काल :—बिहारी का यौवन-काल अधिकांश में मथुरा में व्यतीत हुआ उनका विवाह मथुरा में हुआ था, और वे 'घर जवाई', बन गये थे, इस तथ्य को सभी इतिहासकार—मिश्रबन्धु, शुक्लजी, डा० मिश्र, डा० नगेन्द्र सम्पादित वृहत् इतिहास तथा टीकाकार पं० व्यास, डा० ग्रियर्सन तथा लाला भगवानदीन स्वीकार करते हैं । रत्नाकर जी का भी यही मत है, सम्भवतः इन मतों का मूलाधार यह दोहा है—

जनम ग्वालियर जानियै खण्ड बुन्देले बाल ।

तरुनाई आई सुघर बसि मथुरा ससुराल ॥

किन्तु बिहारी अपनी ससुराल में सम्भवतः स्वतन्त्र तथा ससम्मान नहीं रह सके, अतः उन्होंने अपने एक दोहे में 'घर जवाई' की स्थिति का उल्लेख करते हुये लिखा है—

आवत जात न जानियत तेजहिं तजि सियरान ।

घरहूँ जँवाई लौं घटयौ खरौ पूस-दिन मान ॥ (१७१)

इसके पश्चात् बिहारी आश्रय की खोज में निकल पड़ते हैं, और दीक्षा गुरु नरहरिदास के आश्रम में शाहजहाँ से परिचय होता है और वे उनके आश्रम में रहने लगते हैं ।

बिहारी एक बार आमेर के राजा भिर्जा जयसिंह के यहाँ जाते हैं और नवपरिणीता रानी के प्रेम-पाश में आवद्ध राजा को एक दोहे से शिक्षा देते हैं—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल ।

अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥ (३८)

इस दोहे को पढ़कर राजा को आत्मबोध होता है, और कवि के महत्त्व को

स्वीकार कर वह उन्हें पुरस्कृत करता है। जयसिंह की पटरानी चौहानी इस घटना से विशेष प्रसन्न होती है और कवि को 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम-प्रदान करती है। राजा एवं रानी से सम्मानित हो बिहारी जयसिंह के दरबार में ही रहने लगते हैं और राजा की प्रेरणा से 'सतसई' का निर्माण करते हैं।

किम्बदन्तियों के अनुसार बिहारी को प्रत्येक दोहे पर एक 'स्वर्ण मुद्रा' भी मिलती थी।

सतसई का रचनाकाल मिश्र बन्धु के अनुसार संवत् १७०७ है तथा डा० भगीरथ मिश्र, (डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित इतिहास) सतसई का रचना काल संवत् १७१९ (१६६३) मानते हैं।

हिन्दी-साहित्य का यह कवि संवत् १७२० में दिवंगत हो जाता है। इस दिवंगत संवत् को मिश्र बन्धु विनोद में स्वीकार किया गया है, इसे डा० नगेन्द्र सम्पादित इतिहास में भी स्वीकार किया गया है। शुक्ल जी तथा लाला भगवानदीन का भी यही मत है।

२

बिहारी का जीवन-दर्शन

(बिहारी शृंगारी कवि थे, शृंगारी कवि रसिक होता है, रसिकता ही उनके साहित्य की आत्मा होती है, इस प्रकार बिहारी के साहित्य की आत्मा शृंगार है, और उसका साधन बिहारी का रसिक स्वरूप। लेकिन बिहारी की रसिकता कामुकता का प्रतिरूप नहीं है अपितु उसका मूलरूप कला-प्रियता में निहित है। बिहारी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जो व्यक्ति संगीत, काव्य और रतिरंग में मग्न नहीं हुआ उसका जीवन व्यर्थ गया और जो इनमें मग्न हुआ वह जीवन से तर गया—

तन्त्री नाद, कवित्त रस, सरस राग, रति-रंग ।

अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ (९४)

बिहारी ने अपने दोहों में जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया है, उनके भक्ति के दोहे किसी भक्त कवि की तुलना में निम्न कोटि के नहीं हैं। बिहारी ने विलासिता में आकण्ठ निमग्न वृद्धि के प्रति अपने उद्गार व्यक्त करते हुये अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है—

जम-करि मुँह-तरहरि परयो, इहि धरि हरि चित लाउ ।

बिषय तृषा परिहरि अजौ, नरहरि के गुन गाउ ॥ (२१)

अतः बिहारी के शृंगारिक, परकीया प्रेम और विपरीत रति के दोहों को

लेकर जो उनकी छीछालेदर की जाती है और इन दोहों के आधार पर उनके जीवन और दृष्टिकोण को निर्धारित करने का जो प्रयास किया जाता है वह सर्वथा उनके प्रति न्यायपूर्ण नहीं है, वास्तव में वह तो जन-जीवन और लोक रुचि को लेकर चलते हुये कविकर्म में प्रवृत्त थे। बिहारी कभी लम्पटता और कामुक प्रेम के समर्थक नहीं रहे, उनके प्रेम का आदर्श महान् एवं व्यापक धरातल पर स्थित था, बिहारी भ्रमर-वृत्ति के प्रेम को स्वीकार करने वाले नहीं थे, उनके प्रेम का आदर्श मर्यादित था, वे प्रेम को पयोधि के समान गम्भीर मानते थे, बिहारी जिस प्रेम के उपासक अथवा समर्थक थे वह समाप्त होने पर भी अपनी चटक छोड़ने वाला नहीं है—

गिरि तैं ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार ।

वहै सदा पसु नरन को प्रेम पयोधि पगार ॥ (२५१)

चटक न छाँड़तु घटत हूँ, सज्जन नेहूँ गंभीर ।

फीको परै न, बरु घटै, रंग्यौ चोल रंग चीर ॥ (६६८)

बिहारी का जीवन नागरिक था, अतः उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में नागरिकता की दुहाई दी है, अपने को ग्राम्य तत्वों से दूर रखने का प्रयास किया है, उनकी इस चेष्टा में ग्राम्य-जीवन के प्रति कभी-कभी उपेक्षा का भाव भी मिलता है, लेकिन एक बात इस चेष्टा में अधिक उभर कर आई है कि नागरिक-संस्कृति, नगर का जीवन और नगर निवासी विलासी, कामुक और लम्पट हो चुके थे, बिहारी ने अपनी सतसई में इस जीवन की धज्जियाँ उड़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। इस नागर प्रभाव के कारण बिहारी की सतसई अधिक मुखर, अधिक वक्र हो उठी है और बिहारी को मनमौजी मस्त जीव भी सिद्ध कर देती है इस प्रसंग में बिहारी का विनोद-स्वरूप भी कभी-कभी व्यक्त हो जाता है।

किन्तु बिहारी न तो आत्मवंचक थे, न ढोंगी थे, और न ही कपटी, अपितु सरल हृदय के व्यक्ति थे। इसलिये जो कुछ जैसा है, उसको वैसा ही व्यक्त भी किया है। जीवन की विषमता को छिपाने का प्रयास कभी नहीं किया है। और न आश्रयदाता की प्रशंसा में ही अपनी लेखनी का दुरुपयोग किया है।

बिहारी सम्पत्ति और वैभव के उपासक न थे, सम्पत्ति आवश्यकता की पूर्ति करती है, आवश्यकता पूर्ण होती रहे वहीं तक उन्हें सम्पत्ति अभीष्ट है, वे धन के गुलाम नहीं थे—

तौ अनेक औगुन भरिहि चाहै याहि बलाइ ।

जौ पति संपतिहूँ बिना, जदुपति राखे जाइ ॥ (४२१)

बिहारी तो खाने और खरचने तक ही सम्पत्ति का महत्व स्वीकार करते हैं—

खाये खरचे जो जरै तो जोरिये करोरि ॥

(बिहारी जीवन में निरन्तर स्वस्थ दृष्टिकोण को लेकर चलते हैं जीवन में कभी नहीं घबराते, धियं उनका अवलम्ब है सुख-दुःख जीवन-चक्र के अनिवार्य उपकरण हैं अतः इनको जीवन में सहर्ष स्वीकार करना चाहिये) —

दीरघ सांस न लेहि दुख, सुख साईं हि न भूलि ।

दई दई क्यों करतु है, दई दई सु कबूलि ॥ (५१)

दियौ सु सीस चढ़ाई ले आछी भांति अएरि ।

जापै सुख चाहतु लियौ ताके दुखहि न फेरि ॥ (८१)

(बिहारी जीवन में सज्जनों की संगति के पक्षपाती थे, सत्संग ही जीवन को स्वर्ग बना देता है) —

अजौ तरयौना ही रह्यौ श्रुति सेवत इक रंग ।

नाक वास बेसरि लह्यौ मिलि मुकुतन के संग ॥ (२०)

(बिहारी के मत में विनय जीवन का भूषण है, नम्र व्यक्ति ही जीवन में सफल होते हैं) उनका उत्थान होता है —

जे तौ नीची ह्वै चलै ते तौ ऊँचो होत ॥

सम्पति केस, सुदेसनर नवत, दुहुनि एक बानि ।

विभव सतर कुच, नीच नर, नरम विभाव की हानि ॥ (११७)

बिहारी आत्म-प्रशंसा और मिथ्या-प्रशंसा को नहीं मानते हैं —

बड़े न हूजै गुनन बिनु बिरद बड़ाई पाइ ।

कहत धतूरे सो कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाई ॥ (१९१)

(बिहारी संतोष को जीवन में महत्व देते थे, आवश्यकतायें सीमित रखना और संतोषी होना, उनके जीवन का सिद्धान्त था; वे सुखी जीवन के आदर्श के रूप में कबूतर और कबूतरी के जीवन को प्रस्तुत करते हैं) —

पटु पाँखै भखु काँकरै, सपर परेई संग ।

सुखी परेवा पहुमि में, एकै तुही विहंग ॥ (६१९)

(बिहारी धार्मिक जीवन में सहिष्णु और समन्वयवादी थे, अतः वे अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए संघर्ष से दूर रहते हैं, उनका तो कहना है, कि अन्तिम लक्ष्य वही एक है उसके मार्ग अनेक हैं) —

अपने अपने मत लगे वादि मचावत सोर ।

त्योँ त्योँ सबको सेइबा एकै नन्द किसोर ॥ (५८१)

व्यक्ति कभी अपने स्वाभिमान को तिलांजलि नहीं दे सकता है, और न किसी के आश्रय में वहीं पड़ा रहेगा। बिहारी ने लिखा है—

जनमु जलधि पानिपु बिमल, भौ जगआघु अपारु ।

रहै गुनी ह्वै गर-परयो, भलें न मुकता-हारु ॥ (३७६)

गहै न नैको गुन-गरब, हँसौ सबै संसारु ।

कुच-उचपद-लालच रहे, गरें परें हूँ हारु ॥ (३७७)

बिहारी आशावादी थे, बिहारी जैसे रसिक, मस्त व्यक्तित्व वाला व्यक्ति जिन्दा दिल और आशावादी होता है, वह जीवन के उत्थान-पतन में कभी पराजय स्वीकार कर ही नहीं सकता है। जीवन में जिसने दर दर ठोकें खाई हों, संघर्ष किया हो, वह व्यक्ति जीवन में आदर्श की अपेक्षा, उपयोगितावाद को महत्व देता है और अपने कार्य और आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये सभी उपाय अपना सकता है। और वह यथार्थवादी बनकर करणीय और अकरणीय सभी कर सकता है।

बिहारी समष्टि रूप में मानव स्वभाव को अपरिवर्तनीय मानते हैं। संस्कृत में भी एक उक्ति है “स्वभावो दुरति क्रमः।” बहुत अंश में बिहारी इस उक्ति से प्रभावित प्रतीत होते हैं—

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीचु ॥

नल बल जल ऊचैं चढ़ै अन्त नीच कौ नीचु ॥ (३४१)

किन्तु महान और सज्जन व्यक्ति जो कि परिस्थितियों-वश समय-चक्र के कारण कभी कभी बदल जाते हैं, किन्तु अवसर आने पर अपनी पहली अवस्था को पुनः अपना लेते हैं—

समै पलट पलटै प्रकृति को न तजै निज चाल ।

बिहारी का जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण था। बिहारी अपनी सतसई में अपने व्यक्तित्व से परे नहीं हो सके हैं और समाज की उपेक्षा भी नहीं कर सके हैं। उनकी सतसई में उनका जीवन दर्शन स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इस सम्बन्ध में “बिहारी और उनका साहित्य” के लेखक द्वय ने लिखा है कि “संक्षेप में बिहारी के सिद्धान्त वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के शतशः अनुभवों का निचोड़ हैं और उनके आदर्श भगवन्निष्ठा और सजीव जीवन के सुदृढ़ स्तम्भों पर टिके हैं, कोई हवाई किले नहीं हैं। रसिकता, मस्ती, फक्कड़पन, स्वाभिमान आदि जन्मजात गुणों ने उनके जीवन दर्शन को सहज व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया, जिसमें आकर्षण है किन्तु आसक्ति नहीं, उच्चता है किन्तु दुर्गमता नहीं, गम्भीरता

है किन्तु अभेद्य सघनता नहीं। अतएव वह सराहनीय ही नहीं स्पृहणीय भी है और स्पृहणीय ही नहीं महनीय भी है।”१

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बिहारी के आदर्श मानवीय हैं यथार्थवादी हैं और जीवन से सम्बद्ध हैं। जीवन में अच्छाई बुराई जो कुछ है उसे वे लेकर चले हैं, इसी में उनकी सफलता थी वह उन्हें सर्वथा प्राप्त हुई है।

३

बिहारी और उनका युग

बिहारी हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवि हैं, रीतिकालीन भारत की ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक सम्पूर्ण विशेषतायें उनके साहित्य में परिलक्षित होती हैं, क्योंकि साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से होता है, एक सजग कलाकार अपने युग की परिस्थितियों की उपेक्षा कर साहित्य का सृजन नहीं कर सकता। ‘साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है’, यह कथन सार्वभौम कलाकारों पर अक्षरशः सत्य उतरता है, और बिहारी का साहित्य भी इस कथन से परे नहीं है।

युग विशेष की ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की परिणित सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यबोध की दृष्टि के रूप में होती है, इसका ज्वलन्त उदाहरण बिहारी की सतसई है, डा० रामगोपालसिंह चौहान ने ठीक ही लिखा है कि—

“ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों ने रीति-युग के काव्य शृङ्गारपरक, शौर्यपरक एवं प्रेमपरक आदि वर्ण्य-विषयों की मृण्मूढभूमि तैयार की, समस्त रीति-युग के काव्य के—चाहे वह रीतिबद्ध-धारा का काव्य हो, चाहे रीतिमुक्त-धारा का काव्य हो—यही तीन वर्ण्य विषय थे। दरबार के चमक-दमकपूर्ण वातावरण ने, तथा आश्रयदाता और उसके दरबारियों को फड़काने वाली कलात्मक बारीकियों की प्रवृत्ति ने, ऊहात्मक कथन, वचन विदग्धता, उक्ति-वैचित्र्य, वक्रोक्ति आदि की कला प्रवृत्तियों को जन्म दिया। पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति बहुज्ञता प्रदर्शन के रूप में उभरी और कलापक्ष में कथन-भंगिमा के अनेक रूपों-वचन विदग्धता, उक्ति वैचित्र्य, वक्रोक्ति आदि रूपों में उभरी। उसके विविध कलारूपों में जो तराश-खराश की बारीकी और पच्चीकारी, कटाव और खम उभारने की प्रवृत्ति थी, उसने उसमें शब्द-चयन और शब्दालंकारों के सौन्दर्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति को जन्म

दिया। नारी अंगों के सौन्दर्य वर्णन में उसके अंगों की गोलाइयों और उभारों को चित्रित करने की प्रवृत्ति के मूल में मूर्ति एवं चित्रकला की तराश-खराश, कटाव और खम तथा गोलाइयाँ उभारने की प्रवृत्ति का प्रभाव है। ये प्रवृत्तियाँ समस्त रीतियुगीन काव्य की प्रवृत्तियाँ हैं, जो केशव से लेकर बिहारी, देव, मतिराम, पद्माकर, घनानन्द, बोधा आदि सभी में परिलक्षित होती हैं। चाहे उनका सम्बन्ध दरबार से रहा हो या न रहा हो। सभी के काव्यों में शृङ्गार और प्रेम की प्रवृत्ति तथा कलात्मक चमत्कार की प्रधानता और भी इस बात का सबूत है कि यह विशेषतायें उस युग के समाज की सामान्य विशेषतायें बन गयी थीं।”^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल की कविता अपने युग की देन थी, और बिहारी की कविता अपने युग की समस्त मनोवृत्तियों का सफल प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है।

उपर्युक्त कथन के आधार पर रीतिकालीन और विशेषकर बिहारीकालीन परिस्थितियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी यहाँ अभीष्ट है।

(बिहारी रीतिकाल के कवि हैं, रीतिकाल का समय राजनीतिक दृष्टि से शाहजहाँ का समय है) इस समय शाहजहाँ का राज्य-विस्तार दक्षिण में अहमदनगर, गोलकुण्डा, बीजापुर आदि रियासतों तक, उत्तर में कंधार तक, और पश्चिम में सिंध से लेकर पूर्व में सिलहट तक था। राज्य में शान्ति थी, सुख था, वैभव विलास के दिन थे, किन्तु वैभव विलास के ये दिन अधिक समय तक नहीं रहे, क्योंकि परिवर्तन का शाश्वत चक्र-सर्वत्र अपना प्रभाव दिखलाता है, परिणामस्वरूप अकबर और जहाँगीर का वैभव और शान्तिकालीन भारत विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो उठा। धीरे-धीरे शाहजहाँ के समय में दक्षिण में उपद्रव प्रारम्भ हो गये। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त पर बाह्य आक्रमणकारी अपना जोर आजमाने लगे। इन्हीं विषम परिस्थितियों के बाह्याचक्र के चलने पर संवत् १७१५ में शाहजहाँ बीमार पड़ गया, उसकी मृत्यु की अफवाह उड़ी और शाहजहाँ के बेटों में सिंहासन के लिए युद्ध प्रारम्भ हो गया। छल-प्रपंच की धूलि उड़ाती हुई राजनीति का दामन रक्त-रंजित हो उठा। दारा और औरंगजेब का संस्कृति और राजनीति का द्वन्द्व आरम्भ हो गया, जिसमें एक ओर कट्टर सुन्नी और कुशल राजनीतिज्ञ औरंगजेब था तो दूसरी ओर ज्ञानी सहिष्णु और दयालु, दारा था। इसमें औरंगजेब की विजय हो गई। औरंगजेब की साम्राज्य-विस्तार की लिप्सा निरन्तर बढ़ती रही। उसके अत्याचार बढ़ते रहे और बढ़ा उसका विरोध। परिणामस्वरूप भारतीय नरेशों और जनता दोनों में ही उसके राजनीतिक और सांस्कृतिक अत्याचारों के विरोध में विद्रोह भावना भी उभरी और यत्र-तत्र स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना होने लगी। दक्षिण में मराठा, अवध में

राजपूत, आगरा में जाट, बुन्देलखण्ड में बुन्देले, पंजाब में पंजाबी अपना-अपना राज्य स्थापित कर लेते हैं। औरंगजेब के जजिया कर तथा मन्दिरों की ध्वंसक नीति ने हिन्दू जनता को विद्रोह का बिगुल बजाने को बाध्य किया तथा उसकी सुन्नियों की कट्टरता ने उससे शियों को विरुद्ध कर दिया। इस प्रकार औरंगजेब का भारतीय आकाश में धूमकेतु के समान उदय हुआ, जो न स्वयं शांत और सुखी रह सका और न उसने जनता को ही सुख और चैन लेने दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल का उदय सुख-शान्ति, वैभव और विलास में हुआ था, तथा उसकी परिणति—अव्यवस्था, विप्लव, अधःपतन और साम्राज्यवादी राजनीति में हुई।

अकबर ने देश में शासन व्यवस्था को सुगठित किया था, उसके जीवन की विषमताओं ने उसे व्यावहारिक धरातल पर लाकर उदार और सहिष्णु बनाया था, अतः उसने अपने जीवन काल में व्यावहारिक नीति को अपनाकर हिन्दू-यवन मैत्री का वातावरण प्रस्तुत किया। देश में सुरक्षा और शान्ति स्थापित हुई। देश में हिन्दू राजाओं के साथ उसके सम्बन्ध मित्रता के थे; परिणामस्वरूप देश सुरक्षा का अनुभव करता हुआ वैभव की ओर उन्मुख हुआ। अकबर के यहाँ हिन्दू सामन्तगण थे, अकबर से अच्छीखासी वृत्ति प्राप्त करते थे, और उसका सदुपयोग भी ऐशो-आराम में करते थे। दरबार का शाही वातावरण, वैभव प्रदर्शन, चमत्कार और विलास से परिपूर्ण यह उस काल की विशेषता थी। जनता भी इस परिस्थिति से परिचित थी, “यथा राजा तथा प्रजा” के अनुसार प्रजा भी सामन्ती वातावरण और उसकी विशेषताओं से आकृष्ट थी। सम्पूर्ण देश में वीरता दिखाना, शानशौकत करना, कलाकारों-नर्तकों-नर्तकियों को आश्रय देना प्रचलित था। रीतियुग की यह परिस्थितियाँ जहाँगीर और शाहजहाँ तक पूर्णतः अविकल रूप में मिलती हैं, और इस युग में निर्मित समस्त साहित्य में परिलक्षित होती हैं; किन्तु वैभव-विलास, मदिरा, नर्तकियों की चकाचौंध बनी रहती है। बिहारी का समय (जन्म सं० १६०२) शाहजहाँ और औरंगजेब के काल में आता है। बिहारी भारत की तत्कालीन सम्पूर्ण परिस्थितियों से परिचित थे। (वे जयसिंह के (१६१७-१६६७) दरबारी कवि थे। उन्होंने राजाओं के वैभव और विलास को देखा था। जनता से उनका परिचय था, उपर्युक्त सम्पूर्ण क्रिया-प्रतिक्रियाओं की झलक उनके साहित्य में देखी जा सकती है।

समाजः—रीतिकाल में भारतीय समाज को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पहला उच्च वर्ग, इस वर्ग में बादशाह तथा शाही घराने, सामन्तगण, बड़े-बड़े व्यापारी, छोटे-छोटे राजा तथा अफसर आते हैं। यह वर्ग वैभवसम्पन्न था, अतः विलासी, अपव्ययी, कंचन-कामिनी और मदिरा का सेवक था। “रीतिकालीन

कविता में नायिका-भेद, अष्टयाम, बारहमासा या वैभवपूर्ण भोजनों एवं सामानों का वर्णन उसी वर्ग के जीवन का प्रतिबिम्ब है।" दूसरा वर्ग निम्न वर्ग था; समाज का यह प्रधान वर्ग था, इस वर्ग में कारीगर, मजदूर और किसान थे। यह वर्ग दिन-रात परिश्रम करने पर दो समय भरपेट भोजन कठिनाई से कर पाता था। "यदि आधुनिक मार्क्सवाद की परिभाषा में कहना चाहें तो यह सर्वहारा वर्ग था।" परिश्रम से पैदा करता था, पर उसका उपयोग उच्चवर्ग के लोग करते थे। इनके पास जीवन के उपयोगी आवश्यक उपकरण भी न थे, इन्हें उच्चवर्ग की बेगार भी भुगतनी पड़ती थी। तीसरा वर्ग कलाकारों का था, ये उच्चवर्ग की शरण में रहते थे, उनका मनोरंजन करना इनका कार्य था, उच्चवर्ग के बिगड़े हुए दिनों में इन्हें जीविका के लिए भटकना भी पड़ता था। वास्तव में डा० रामगोपालसिंह चौहान के शब्दों में "यह युग मोटे तौर पर दो वर्गों में बँटा था, जिसे हम शासक और शासित कह सकते हैं। शासक वर्ग का जीवन और उनकी प्रवृत्तियाँ ही समाज-व्यवस्था, सामाजिक नैतिकता, मर्यादा, सौन्दर्य-बोध आदि जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं के रूपायन में इसी वर्ग का प्रभुत्व था। शासित वर्ग तो उपेक्षित था। अतः कला और काव्य में शासक वर्ग की प्रवृत्तियों का चित्रण ही विशेष महत्व रखता था। ...अतः रीतियुग के साहित्य में इस वर्ग की वैभव-विलास की प्रवृत्ति का चित्रण नितान्त स्वाभाविक था। इस युग के साहित्य में शृङ्गार और प्रेम चित्रण की प्रमुखता का यही कारण है और इस युग के समाज की शृङ्गार और प्रेम प्रवृत्ति का मूल है उस युग की ऐतिहासिक परिस्थितियाँ। नारी विलास का प्रमुख साधन रही हैं। अतः सामन्ती समाज-व्यवस्था में नारी-जीवन की सार्थकता पुरुष को आकर्षित कर उसकी विलास-क्रीड़ा का साधन बनने और उसके द्वारा भोग किए जाने में ही मानी जाती रही है?" राजमहलों में रूप के बाजार को एकत्र कर उनका पूरी तरह भोग किया जाता था और समाज भी उससे प्रभाव व प्रेरणा ग्रहण करता था। राजा और प्रजा भोग-विलास में डूबी रही और वीरता सिर पर पैर रख कर धीरे-धीरे गायब होती रही। समाज की व्यवस्था भी शनैः शनैः विश्रृङ्खलित होने लगी थी। चोरियाँ होने लगी थीं। जिनमानस में अंधविश्वास बढ़ रहा था। सती-प्रथा, बाल-विवाह, तथा परदा-प्रथा अपने चरमोत्कर्ष पर थी; इनके मूल में भी सामाजिक कारण थे। अविवाहित सुन्दरियाँ उच्चवर्ग के व्यभिचार का शिकार होती थीं। रीतिकालीन साहित्य में दूतियाँ और नायिकायें वर्णित हैं, जो इनके प्रतिरूप थीं, विलासियों के अत्याचार और व्यभिचार से बचने के लिए सती प्रथा, बालविवाह और पर्दा प्रथा को समाज में प्रश्रय मिल रहा था। शिक्षा की व्यवस्था भी अच्छी न थी, बौद्धिक ह्रास निरन्तर हो रहा था, उसका प्रभाव जनता के मनोबल पर भी

पड़ रहा था। निष्कर्ष रूप में समाज जीर्ण-शीर्ण तथा जर्जर था, अशिक्षा, अंधविश्वास एवं नैतिक पतन अपना नग्न-नृत्य कर रहे थे। आर्थिक दृष्टि से राजन्यवर्ग और सामन्त वर्ग अवश्य ही सम्पन्न था, किन्तु जनता उतनी सम्पन्न न थी, किन्तु सामान्य जनता उच्चवर्ग के विलास और पतन के कार्यों को अवश्य देखती थी।

धार्मिक परिस्थिति:—“धनाद्धर्मं ततः सुखम्” के अनुरूप उच्चवर्ग धन के द्वारा धर्म को अपने वश में कर लेता था, शोषित-वर्ग धन के अभाव में पहलित होता था, क्योंकि धन के अभाव में नैतिकता के मानदण्ड परिवर्तित होते हैं। धर्म का ह्रास होता है, शिक्षा के अभाव में आत्मिक मूल्यों का पतन होता है। इन सबका समन्वित प्रभाव रीतिकाल के धार्मिक जीवन पर पड़ रहा था। शासक वर्ग भोग-विलास में आकण्ठनिमग्न था, अंधविश्वास और वाह्याचार की वृद्धि हो रही थी। आशय यह है कि समाज धार्मिक और नैतिक दृष्टि से पतनोन्मुखी था। परिणाम स्वरूप धर्म की पतनोन्मुखी व्याख्या हो रही थी। बौद्ध धर्म के ह्रास के पश्चात् भारतीय धर्म साधना में श्रृङ्गारिकता को लेकर चलने वालों में नाथ, वज्रयान, शाक्त सम्प्रदायों को लिया जा सकता है, इन सम्प्रदायों में मांस, मदिरा और रमणी के प्रति विशेष आग्रह था। किसी-किसी सम्प्रदाय में पंचमकार का भी प्रचलन था। हिन्दू मन्दिरों में दासी भी प्रचलित हो चुकी थी। इन सबने मिलकर धर्म-क्षेत्र में विलासिता और कामुकता को जन्म दिया। परिणामतः पवित्र धार्मिक स्थान व्यभिचार के अड्डे बन चुके थे।

रीतिकालीन भारत में चार धर्म प्रधान थे—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और ईसाई। रीतिकाल से पूर्व ही भारत में हिन्दू धर्म के शंकर, रामानुज, बल्लभ आदि सम्प्रदाय प्रचलित थे। बल्लभ सम्प्रदाय की सात गदियाँ प्रतिष्ठित थीं, इनमें भी वैभव और विलास का ताण्डव-नृत्य होने लगा था। बंगाल का चैतन्य-सम्प्रदाय भी इस दिशा में किसी से पीछे न था। कृष्ण-भक्ति में रागात्मिका-भक्ति को स्थान मिल चुका था, सूर की भक्ति, उसकी पवित्रता, सात्विकता और दार्शनिकता के स्थान पर रीतिकाल के आते-आते उसमें राधा-कृष्ण के बहाने प्रेम-व्यापार और विलास को प्रश्रय मिल चुका था। योगी भोगी हो चुके थे। रामभक्ति धारा भी उस दिशा में पीछे न थी, रामलीला का रूप भी परिवर्तित होने लगा था, राम भी किसी छैल-छबीले नायक से कम न रह गये थे। सीता विलासवती नायिका के रूप को प्राप्त कर चुकी थी। निर्गुण सम्प्रदायों में भी इस सगुण धारा का प्रभाव पड़ चुका था; यद्यपि इस धारा के सन्त सगुण भक्ति सन्तों से श्रेष्ठ थे। निष्कर्ष रूप में हिन्दू-धर्म में चैतन्य सम्प्रदाय के कारण भक्ति में जो परकीया भावना को महत्व मिल रहा था, उसने भक्ति के क्षेत्र में नायिका भेद को स्थान दिया, इसका प्रतिबिम्ब रीतिकालीन कविता पर भी दृष्टिगत होता है।

मुसलमान धर्म राज धर्म था, इनके हिन्दुओं पर अत्याचार होते थे, प्रारंभिक मुसलमान राजाओं की अपेक्षा औरंगजेब का काल अत्याचारों के चरम विकास का काल है। “औरंगजेब तक आते-आते जजिया लगा, मन्दिर गिराये जाने लगे, और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण होने लगा। मथुरा तथा बनारस आदि में आज भी उसके प्रमाण उपस्थित हैं। लोगों को अपने व्रत एवं त्यौहारों के पालन की पूर्ण स्वतन्त्रता न थी। दूसरी ओर मुसलमान धर्म स्वीकार करने पर रुपये मिलते थे, नौकरियाँ मिलती थीं। इस प्रकार हिन्दू धर्म बड़ी विपन्नावस्था में था और लोग धीरे-धीरे हिन्दू से मुसलमान हो रहे थे।” परस्पर हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को म्लेच्छ और काफिर कहते थे, घृणा भी करने लगे थे।

रीतिकाल का तीसरा धर्म सिक्ख धर्म था, सिक्खों का उदय इन दोनों सम्प्रदायों में एकता पैदा करने के लिए हुआ था, किन्तु औरंगजेब की नीतियों के कारण वे मुसलमानों के विरोधी हो गये थे, उन्होंने अनेकशः मुसलमानों से संघर्ष किये और बलिदान भी दिये थे।

इस काल का चौथा धर्म ईसाई धर्म था, जो कि रीतिकाल के उत्तरार्ध में क्रमशः अपना विकास कर रहा था।

रीतिकालीन भारतीय धर्मों का सर्वेक्षण करने के पश्चात् हम कह सकते हैं, कि इस युग में धर्म की दशा अव्यवस्थित और विपन्न थी, धर्म की अपेक्षा अंधविश्वास और पाखण्ड का बोल-बाला था। समाज और राजनीति के समान ही धर्म क्षयोन्मुख था। सम्पूर्ण भारत उस समय अत्याचार, अनाचार और छल-प्रपञ्च से आपाद मस्तक निमग्न था।

इस प्रकार हमारे इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि रीतिकालीन धर्मों में अन्तः। संघर्ष और परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो चली थी। इन धर्मों के इन संघर्षों का वैज्ञानिक विवेचन करने के लिए दो वर्ग किए जा सकते हैं—शासक धर्म और शासित धर्म। शासक धर्म के प्रभाव से अपनी रक्षा करने के लिए शासित धर्म में अनेक सीमाबन्दियाँ करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जो तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों में नितान्त स्वाभाविक था तत्कालीन हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में अन्तः संघर्ष तथा अपने तथा कथित वास्तविक स्वरूप की रक्षा के प्रयास स्वरूप धार्मिक विधि-विधानों की कट्टरता का यही प्रमुख कारण है। रीति-युग के आरम्भिक दिनों में हिन्दू धर्म शासित धर्म था और इस्लाम धर्म शासक धर्म था और अन्तिम दिनों में धीरे धीरे ईसाई धर्म शासक धर्म बन चला था। इस प्रकार हिन्दू धर्म दोनों स्थितियों में शासित धर्म था। अतः संकीर्णता और कट्टरता की प्रवृत्ति स्वभावतः सबसे अधिक इसी धर्म में प्रकट हुई। कालान्तर में इसके परिणाम स्वरूप

अन्धविश्वास, पाखण्ड, कर्मकांड की विविधता आदि का विकास हुआ।

कलात्मक परिस्थितियाँ:—रीतिकाल की कला में भी अन्य क्षेत्रों के समान प्रदर्शन का प्राधान्य था। सामन्ती वातावरण होने के कारण श्रृङ्गार और वासना इसकी आत्मा थी। मौलिक प्रतिभा की अपेक्षा परम्पराबद्धता का विशेष आग्रह था। अतः इस काल में कला के क्षेत्र में संप्राणता का अभाव था। क्रमशः एक-एक कला पर संक्षेप में यहाँ विचार करते हुए रीतियुगीन कलात्मक परिस्थितियों का हम स्पष्टीकरण करेंगे—

स्थापत्य कला:—रीतिकाल से पूर्व स्थापत्यकला के क्षेत्र में मुसलमानों की मस्जिदें बनती रही हैं। बाबर ने इस कार्य के लिए कुस्तुनतुनिया से कारीगर बुलाए थे, और दो मस्जिदों का निर्माण कराया था। हुमायूँ का जीवन युद्धों में बीता, उसने स्थापत्य की ओर ध्यान नहीं दिया। अकबर के काल में ईरानी वास्तु-को यहाँ पर्याप्त प्रश्रय मिला, सिकन्दरा, फतहपुर सीकरी, और आगरा का किला इस काल की रचनाएँ हैं। जहाँगीर चित्रकला का प्रेमी था, अतः उसने जहाँगीर का मकबरा तथा दो-एक भवन नूरजहाँ के आदेशानुसार अवश्य बनवाये हैं। इसके विपरीत उसने स्थापत्य में विशेष अभिरुचि नहीं ली। शाहजहाँ स्थापत्य कला का प्रेमी था। उसने दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, जामा मस्जिद, मोती मस्जिद, तथा ताजमहल का निर्माण कराया। ताज उसकी स्थापत्य प्रेम की कहानी को व्यक्त करता है। इसके निर्माण के लिए उसने फारस, अरब तथा तुर्की से कारीगरों को आमंत्रित किया था, इसके निर्माण में कहते हैं कि २२ वर्ष तथा तीन करोड़ रुपये व्यय हुए थे। शाहजहाँ के पश्चात् इस कला का पतन प्रारम्भ होता है। औरङ्गजेब कला प्रेमी न था, अतः उसने इस कला को प्रोत्साहन नहीं दिया, जो दो एक भवन निर्मित भी हुए वे निम्न कोटि के थे। अनुकरण मात्र थे—उदाहरण के लिए लाहौर की मस्जिद है, जो जामा मस्जिद की प्रतिकृति है। औरङ्गजेब हिन्दू-कला तथा कलाकारों का शत्रु था। उसने अनेक मंदिरों को ध्वस्त भी कराया, जिनमें मथुरा और बनारस के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं। काशी का 'माधव राव का (धरधरा)' आज भी इस कहानी को कह रहा है। परवर्ती राजाओं में शाहआलम द्वितीय, सवाई जयसिंह, सूरजमल, तथा मराठों ने भी थोड़ा बहुत अपना कला प्रेम भवनों का निर्माण कर व्यक्त किया है। डा० श्याम सुन्दर दास ने मराठों एवं सिक्खों की कला के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि—“मराठों के मंदिरों में तो प्राचीन शैली का अनुकरण मात्र है, पर घाटों की विशेषता उनके भारीपन में है, जिसके कारण उनके निर्माताओं की महत्वाकांक्षा प्रदर्शित होती है। सिक्खों की बनवाई इमारतों में अमृतसर का स्वर्ण-मंदिर अधिक प्रसिद्ध है। इस पर ताजमहल का

कुछ प्रभाव पड़ा है।”

(मूर्तिकला) रीतिकालीन भारत में मुसलमानों का अखण्ड साम्राज्य था, मुसलमान मूर्तिपूजा के विरोधी थे, अतः इस काल में इस कला के विकास का प्रश्न ही नहीं उठता है। किन्तु हिन्दू-कारीगर यत्र-तत्र मूर्तियों का निर्माण करते थे। वे राज्याश्रय और धन के अभाव में, विशेष सफलता भी नहीं कर पाते थे। जितने हिन्दू कलाकार थे, वे अपनी कला को सुरक्षित एवं जीवित रखने के लिए मूर्तियों के अलङ्करण में ही लगे रहते थे। उनमें सजीवता नहीं होती थी। श्री रामकृष्ण दास ने “भारतीय मूर्तिकला” में मूर्तिकला के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि—

—“१३वीं शती के बाद उत्तर भारत की मूर्तिकला में कोई जान नहीं रह जाती। मुसलमान विजेता मूर्ति के विरोधी थे, फलतः उनके प्रभाववश यहाँ के प्रस्तर-शिल्प के केवल उस अंश में कला रह गई जिसमें ज्यामितिक आकृतियों वा फूल-बूटे की रचना होती थी। मूर्तियों के प्रति राज्याश्रय के अभाव में ऊँचे दर्जे के कारीगरों ने अपनी सारी प्रतिभा अलंकरणों के विकास में लगाई।”^१ यद्यपि रीतिकाल में मूर्तियों का निर्माण हुआ है और विशेषकर-हिन्दी-प्रदेश के बाहर उड़ीसा, गुजरात तथा नेपाल में। किन्तु इन प्रदेशों में निर्मित मूर्तियों में मौलिकता का अभाव, भद्दापन और परम्परा पालन ही विशेष हुआ है। हिन्दी भाषी प्रदेश मूर्तिकला की दृष्टि से पूर्णतः शून्य ही हैं, वास्तव में, तथ्य तो यही है कि इस युग में कला की दृष्टि से सर्वाधिक ह्रास और पतन मूर्तिकला का ही हुआ है।

(चित्रकला)—भारतीय चित्रकला के इतिहास में सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी का समय महत्वपूर्ण है। इस काल की चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर थी, क्योंकि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही राजा चित्रकारी से अनुराग रखते थे। मुगलवंश विशेष रूप से चित्रकला प्रेमी रहा है। बाबर और हुमायूँ चित्रकार न होकर भी उसके अनुरागी थे। उन्होंने अपने विषमकाल में भी चित्रकारों को आश्रय दिया था। अकबर स्वयं चित्रकार था, उसने भारतीय और ईरानी चित्रकला से समन्वय का प्रयास किया था। इन दोनों के मिश्रण से उत्पन्न कला ही अकबर-कला थी। जहाँगीर भी चित्रकार और चित्रकला का ज्ञाता था। जहाँगीर के काल में हिन्दू चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर थी, उसमें स्वाभाविकता एवं सजीवता सर्वत्र दशनीय है। शाहजहाँ वास्तुकला का प्रेमी था, फिर भी उसके समय में चित्रकला

को यथेष्ट आश्रय तथा प्रोत्साहन मिला था। उसके समय में भी यह कला अपना वैभव प्रकट करती है। “उसके समय में भी यह कला ख्याति प्राप्त चित्रकार अनूप चतुर, चतुर्म्मणि, होनहार, बालचन्द्र, विचित्र आदि थे। शाहजहाँ का पुत्र दारा-शिकोह चित्रकला का अत्यन्त प्रेमी था। उसने उत्कृष्ट चित्रों का विशेष संग्रहालय भी निमित्त किया था।.....शाहजहाँ के काल में संरक्षण और आश्रय की प्रणाली इतनी अधिक प्रसार पा गयी थी, कि उसके अनुकरण में मुगल दरबार के अनेक हिन्दू तथा मुसलमान कुलीन पुरुषों ने ललित कला को संरक्षण देना आरम्भ किया। बीजापुर के राजा ने इसी काल में अपने दरबार में चित्रकारों को स्थान दिया तथा उन्हें आश्रय देकर चित्रकला को प्रोत्साहित किया। आगे चलकर बीजापुर की एक अपनी ही चित्र-शैली भी बन गयी। इस तरह शाहजहाँ के काल में आते-आते कला के प्रति प्रेम-भावना मुगल तथा राजपूत दरबार के अतिरिक्त अन्य वर्गों के बीच भी बढ़ने लगी थी।”^१

मुगलकाल में स्थापत्य कला और चित्रकला का समन्वय भी एक विशिष्टता है। इमारतों में विभिन्न रंगों के पत्थरों में पौधों, फूलों और पत्तियों तथा विविध डिजाइनों का अंकन इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

भारतीय कला के इतिहास में औरङ्गजेब का काल पतन का काल है सभी कलाओं का इस समय पतन हुआ, क्योंकि “औरङ्गजेब कला को विलास का साधन मान कर धार्मिक-भावना का विरोधी मानता था।” परवर्ती काल में चित्रकला विशृङ्खलित रूप में मिलती है क्योंकि कोई समर्थ आश्रयदाता उन्हें प्राप्त न था। इस प्रकार चित्रकला का इतिहास इस बात का प्रमाण है। अकबर के काल में इसे जो संरक्षण मिला था, चरमोत्कर्ष जहाँगीर काल में प्राप्त होता है। (यह युग चित्रकला का स्वर्ण युग था) अतः यह है हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन काव्य में जो चित्रोपमता वर्ण रूचि और कलात्मक परिष्कार मिलता है और उसके मूल में तत्कालीन कला-प्रवृत्तियाँ ही हैं।

रीतिकाल में भारतीय चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ, किन्तु मूलतः दो ही प्रधान शैली थीं—एक राजपूत शैली, दूसरी मुगल शैली। डा० कुमार स्वामी ने इन शैलियों का विशेष अध्ययन किया है, उन्होंने राजपूत शैली की कुछ अगन्तर शैलियों का भी उल्लेख किया है—

[१] राजस्थानी चित्रशैली—

(क) जयपुर की शैली

(ख) बूंदी की शैली

(ग) मारवाड़ की शैली

(घ) बुन्देल खण्ड की शैली

(ङ) काठियावाड़ की शैली

[२] पहाड़ी चित्र-शैली—

(क) जम्मू की कलम

(ख) काश्मीर कलम

(ग) कांगड़ा कलम

(घ) गढ़वाल कलम

[३] सिक्ख चित्र-शैली—

~ (क) पंजाब की शैली

राजपूत कलाकारों के चित्रों के मूल में उनकी वैष्णव भावना थी, अतः वे वैष्णव-साहित्य तथा संगीत-शास्त्र में वर्णित राग-रागिनियों के चित्र बनाने की ओर विशेष प्रवृत्त थे। राजपूत चित्रकला के विशेष अध्ययन के लिए वैष्णव संस्कृति एवं सम्यता का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है और विशेष कर—जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास, कबीर, तुलसी, सूर, केशव और बिहारी के साहित्य का परिचय तथा रामानुज एवं रामानन्द के सिद्धान्तों का अध्ययन भी इस कला की जानकारी के लिये आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजपूत कला के मूल में भारतीय साहित्य और संस्कृति थी, इसने एक महान् कार्य यह किया कि विकासमान मुगल शैली के प्रभाव को रोककर विदेशियों पर भारतीयता का रंग भी चढ़ाया।

मुगल शैली भी इस काल की चित्रकला की लोकप्रिय शैली थी। किन्तु व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से राजपूत शैली विशेष महत्वपूर्ण रही। मुगल दरबारों में यह शैली अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ रही। मुगल कला के मूल तत्व यद्यपि विदेशी (ईरान, फारस, गान्धार) थे, किन्तु अकबर के काल में हिन्दू-कला के अनेक तत्व भी इसमें मिल गये थे, इसी समन्वित शैली का नाम ही मुगल शैली है। श्री रामकृष्ण दास ने इस शैली को निम्न रूपों में विभक्त कर अध्ययन किया है—

(१) अकबरी शैली

(२) जहाँगीरी शैली

(३) शाहजहाँ शैली

(४) डक्कन शैली

(५) परवर्ती शैली

(ऐतिहासिक चित्रकला वास्तव में पतनोन्मुखी चित्रकला थी, क्योंकि उसमें

सजीवता' स्वाभाविकता और मौलिकता के स्थान पर यांत्रिक सूक्ष्मता, अलंकरण एवं चमक-दमक का प्रभाव बढ़ गया था ।) उसकी यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी कि अति-रेकावस्था में वह मन को ऊबा भी देती थी । औरङ्गजेब तो इस कला का महान् शत्रु था, उसने अकबर के मकबरे की चित्रकारी को मिटवा दिया था । दिल्ली पराभव के बाद भारतीय चित्रकला में युगीन शृंगारिकता, एवं सूक्ष्मता का प्रभाव पड़ा और वह भी चमक-दमक पैदाकर कलुषित भावना को उत्पन्न करने लगी ।

(राज दरबारों के अतिरिक्त यह कला भक्तों के यहाँ भी जीवित थी, वहाँ राधाकृष्ण की विभिन्न मुद्राओं का रूपायन हो रहा था, इनमें रीतिकालीन शृंगारिकता और विलासिता का बोल-बाला था । देव और बिहारी के शृंगारी दोहों और छन्दों को रूपबद्ध किया जाता था ।) इस काल की कला पर विचार करते हुये भी भोलानाथ तिवारी ने लिखा है कि—

“रीतिकाल के आरम्भ के साथ ही चित्रकला का ह्रास प्रारम्भ हुआ और रीतिकालीन चित्रकला में रीतिकालीन काव्य की ही भांति मौलिकता, सजीवता तथा जनजीवन के सम्पर्क का प्रायः अभाव है और दूसरी ओर बारीकी, अलंकरण तथा यांत्रिक-सौन्दर्य का बाहुल्य है ।”^१ किन्तु हम तिवारी जी के इस कथन से कि “उसमें जन-जीवन के सम्पर्क का प्रायः अभाव था” से सहमत नहीं हैं, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण जन-जीवन ही अस्त-व्यस्त और विच्छिन्न हो गया था, मानव मूल्य परिवर्तित हो चुके थे, धारणायें बदल चुकी थीं, अर्थात् सम्पूर्ण समाज ही पतित हो चुका था, इसीलिये कवियों, लेखकों और कलाकारों की मान्यतायें और विचार भी पतनोन्मुखी थे । कलाकारों ने हमारे विचार से उस युग का वास्तविक चित्रण किया है, सम्पूर्ण कलाएँ उस युग की मनोवृत्तियों का स्पष्ट चित्रण करती हैं ।

(संगीत कला:—रीतिकाल में संगीत कला की कहानी लगभग चित्रकला के समान ही है । रीतिकाल से पूर्ववर्ती मुगल राजा संगीत प्रेमी न थे, अकबर को इस कला से विशेष लगाव था, अतः उसके काल में संगीत कला का चरमोत्कर्ष हुआ)। विदेशी संगीतज्ञों को भी उसके दरबार में सम्मान मिलता था । (तुलसेन उस समय का सर्वश्रेष्ठ संगीतकार थे) । अकबर के बाद शाहजहाँ तक तो गनीमत रही, और उसके बाद इस कला का भी पतन हुआ । वैसे रीतिकाल के संगीतकारों में प्रसिद्ध गायक जगन्नाथ और जनार्दन भट्ट (शाहजहाँ काल), भानुदत्त (औरंगजेब काल), अदारंग-सदारंग आदि उल्लेखनीय हैं । वैसे इस काल में श्रीनिवास कृत

‘रागतत्व विबोध’ नामक प्रसिद्ध संगीत का ग्रन्थ भी लिखा गया। किन्तु यह काल इस कला के ज्ञास का काल था, इसमें मौलिकता और सजीवता की अपेक्षा प्रदर्शन की ही प्रमुखता थी।

काव्य:—रीतिकाल का आरम्भ शाहजहाँ के शासन काल के उत्तरार्ध में होता है, जैसा कि हमने ऊपर लिखा है कि यह काल प्रदर्शन प्रधान, चमक-दमक और असङ्गकरण को सर्वस्व स्वीकार करने वाला था। जन सामान्य से लेकर राज दरबार तक, अशिक्षित से लेकर उच्चकोटि के कलाकार तक इस प्रवृत्ति से परिचित तथा उसके अभ्यस्त थे। मन और मस्तिष्क भी रंगीन हो उठे थे। साहित्यिक अभिव्यक्ति भी उससे प्रभावित थी, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण है। राजकीय वैभव और शान्ति ने जीवन को सुखमय, विलासमय तथा शृंगारी बनाने में कसर न छोड़ी थी।

रीतिकाल से पहले हिन्दी साहित्य में भक्तिकाव्य की धारा प्रवाहित थी, किन्तु उसमें भी सामाजिक और लौकिक जीवन का प्रभाव पड़ने लगा था, रहीम, गंगा और नरहरि के साहित्य में प्रेम तथा शृंगार तत्व दिखलाई देने लगा था “कबीर, तुलसी तथा सूर ने जिस भक्तिकाल का सृजन किया था, अकबर के शासन काल में ही रहीम, गंगा तथा नरहरि आदि की रचनाओं में प्रेम तत्व की अधिकता हो चली थी तथा उसका आधार मुख्यतः लौकिक ही था।”^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाल के साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी शृंगार और प्रेम तत्व लेकर विकसित हो रही थी। यही तत्व परवर्ती काव्य में रीतिकाव्य का मूल आधार बना है “प्रेम तत्व तथा लौकिकता की प्रवृत्तियों को लेकर जो काव्य कालान्तर में विकसित हुआ उसे ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल कहा जाता है।”^२ हिन्दी का रीतिकाव्य अपने समय का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है/ उसने जीवन के अच्छे और बुरे दोनों ही पक्षों को चित्रित किया है। रीतिकाव्य के सम्बन्ध में विद्वानों का दृष्टिकोण विवादास्पद रहा है, क्योंकि प्रायः विद्वानों ने उसका एकाङ्गी दृष्टिकोण से अध्ययन किया है, जो कि रीतिकाव्य के साथ सरासर अन्याय है। एक विद्वान् ने लिखा है कि “हिन्दी का रीतिकाव्य तत्कालीन सम्यता की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों को ही मुख्यतः आभासित कर सका है।” अतिबौद्धिकता तथा अति-ऐन्द्रियता उस युग की मुख्य प्रवृत्तियाँ रही हैं। कतिपय विद्वानों का इस सम्बन्ध में

१ राम अवध द्विवेदी: हिन्दी लिट्रेचर पृ० ६८-६९

२ डा० शिवलाल जोशी रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, पृ० ११६

यह विचार रहा है कि कुलीन तन्त्र तथा राजतन्त्र के आधार पर चलने वाली शासन व्यवस्था ही तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक विक्षुब्धता के लिये उत्तरदायी है।^१ किन्तु तत्कालीन भारतीय सभ्यता का वास्तविक मूल्यांकन इस एकाङ्गी दृष्टिकोण से करना सर्वथा अव्यवहारिक तथा अयथार्थ है। (वास्तविकता तो यह है जब किसी देश में सांस्कृतिक जीवन विकासोन्मुख होता है, देश में आर्थिक सम्पन्नता होती है, उस समय समाज की भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि होती है यह वृद्धि जन सामान्य से लेकर उच्च वर्ग तक को प्रभावित करती है। इन परिस्थितियों में मानव के जीवन-मूल्य, नैतिक आदर्श और विचार-धाराओं में उथल-पुथल भी होती है, व्यक्तिगत रूप से व्यक्ति शक्ति, सुख और सम्पत्ति के संचय में लग जाता है। इन सभी तत्वों का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ता है। रीतिकाल का साहित्य एक ऐसे ही युग का साहित्य है, अतः उसका मूल्यांकन करते समय जीवन का गहन अध्ययन अपेक्षित है। रीतिकाल के जीवन और समाज का अध्ययन कर हमने स्वीकार किया है कि वह युग वैभव और विलास, चमक-दमक और प्रदर्शन का युग था,) “वैभव की अतिशयता सौन्दर्य-चेतना को विरूपित कर देती है। उसका प्रवाह तब अन्तरंग न होकर बहिरंग हो जाता है। मुगल कालीन समाज के उच्च वर्ग तथा कर्मचारी वर्ग की भी यही अवस्था थी। उनकी सौन्दर्य-चेतना जीवन के बहिरंग विकास को ही चरम सन्तुष्टि मानकर पनपने लगी। इसका फल यह हुआ कि विलासिता को जीवन की परम सन्तुष्टि का एकमात्र साधन समझा जाने लगा। वैभव शृंगारेषणा का पोषक होता है। शृंगारिकता की अतिशयता सामाजिक जीवन के स्वस्थ उत्पादक तत्वों को नष्ट कर देती है और तब उसका एक ढाँचा मात्र रह जाता है। जिसमें विकास शक्ति नाम मात्र को भी नहीं रह जाती। मुगलकालीन समाज की अवस्था अधिकांशतः इसी प्रकार की थी। इस युग के समस्त भौतिक साधन शृंगार तथा विलास के उपकरण जुटाने में लगे हुये थे। समाज की दृष्टि जीवन के ऊपरी स्तर पर भी केन्द्रित थी। जीवन की आध्यात्मिक गम्भीरता का उसमें सर्वथा अभाव था। यही कारण है कि इस युग की कला तथा उसके साहित्य में एक दिव्य तथा आनन्दमय जीवन आभासित नहीं हुआ है, जो अजन्ता तथा एलोरा के मन्दिरों के चित्रों में है अथवा उस युग के साहित्य में है। मुगलकालीन मसजिदों तथा भवनों आदि में वैभवशक्ति, राजसी

१ द क्राइसिस ऑफ इण्डियन सिविलीजेशन :—

एच० गेज पृ० ३ (रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पृ० ११६-१७ से उद्धृत)

आतंक तथा विलासिता की भावनायें मुखरित सी प्रतीत होती हैं।^१ इस युग में निर्मित समस्त साहित्य अपने युग से प्रभावित है, इसलिए इस युग के साहित्य में बौद्धिकता, अलङ्कारण और विलास का आधिक्य है। बौद्धिकता की अतिशयता के कारण साहित्य में वक्रोक्ति, उक्ति-वैचित्र्य और नजाकत के दर्शन होते हैं। बिहारी का साहित्य इसका प्रमाण है।)

४

रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

रीतिकालीन साहित्य की सृजन-भूमि सामन्ती वातावरण है, तथा तत्कालीन काव्य सभ्यता की पतनोन्मुखी प्रवृत्तियों का यथार्थ आकलन करता है। जन-जीवन का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। सामन्ती वातावरण के उज्ज्वल तथा धूमल दोनों ही पक्षों के चित्र रीतिकाल की कविता में विद्यमान हैं। रीतिकाल के वैभव ने सौन्दर्य-चेतना को इस सीमा तक ही प्रभावित किया है कि वह आन्तरिक होने की अपेक्षा बाह्य है। इस बहिरङ्ग प्रवृत्ति ने चमक-दमक और अलङ्कारण को स्वीकार कर अपने में आत्मतोष का अनुभव किया है (इस प्रदर्शन-प्रधान युग के काव्य-चेता आत्म-सन्तोष की अपेक्षा स्वामी-मन सन्तोष में अपने कर्तव्य की पूर्णता का अनुभव करते थे)। जैसा कि हमने पहले लिखा है कि (रीतिकाल का काव्य जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति है) रीतिकाल की जीवन सम्बन्धी अपनी मान्यताएँ हैं, अपने सिद्धान्त और अपना जीवन दर्शन है। उनका जीवन वासनात्मक शृंगार और नारी सौन्दर्य तक ही सीमित है। उनकी वाणी में न तो सूर तुलसी की भक्ति की तन्मयता है और न भक्त कवियों की भाँति “सन्तन को कहा सीकरी सो काम” जैसी निस्पृह भावना ही है। यह कवि वैभव के युग में जिस प्रदर्शन के शिकार हुए, राजसी ठाठ को अपने गले लगाए रहे, क्योंकि ऐसा न कर वे समाज में न तो सम्मान प्राप्त कर सकते थे और न राज-दरबार में पद ही। अतः रीतिकाल की कविता अपनी विशिष्ट विशेषताओं के साथ प्रकाश में आती है। “रीतिकालीन कवि की समस्त अन्तश्चेतना सुरा, सुन्दरी और सुराही के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रही थी। दरबारी वेश्याओं तथा रक्षिताओं के मणिमंजीर की मधुर-ध्वनि को छोड़कर वह विशाल जन-कोलाहल को सुनने के लिए कभी भी बाहर नहीं निकला। भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा

१ डा० शिवलाल जोशी : रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
पृ० १२३-२४

उसे रूप-सौन्दर्य अधिक आकर्षित करता रहा। रीतिकालीन कवि ने अपनी समस्त शक्ति नारी-शरीर के रूप-चित्रण में लगा दी। उसकी अन्तरात्मा तक वह कभी नहीं जा सका। रीतिकवि की इस प्रवृत्ति का प्रधान कारण उस समय का घुटनशील वातावरण है। विदेशी प्रभुसत्ता के सामने देशी रजवाड़े नतमस्तक होकर हतप्रभ हो चके थे। सत्तागत तेज के हत हो जाने के कारण उस समय का नरेश-वर्ग उस कमी की पूर्ति के लिए कृत्रिम वैभव और ऐश्वर्य के उपकरणों के भोग द्वारा अपना गम गलत करना चाहता था। जब मन की गाँठ बाहर नहीं खुल पाई तो वह नारी-शरीर में चतुर्दिक केन्द्रित हो गई, और रीतिकालीन कवि नारी-शरीर के महीन से महीन चित्र उतार कर क्षति-पूर्ति के साधन जुटाने लगा। फलतः उस समय में शृंगार इसकी प्रधानता में प्रेम का स्थान रसिकता ने ले लिया। इस रसिकता की अभिव्यक्ति उस काल के कवि ने सर्वत्र रीति के परिवेश में की।”^१

शृंगारिकता :—रीतिकाल के कवियों का प्रमुख प्रतिपाद्य शृंगार है। इस शृंगार की पृष्ठभूमि व्यापक है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल इस शृंगार की प्रेरणाभूमि है। भक्तिकाव्य में भी कुछ ऐसे तत्व थे जिनकी परिणति रीतिकालीन कविता में शृंगार के रूप में होती है। भक्तिकाल के निर्गुण कवियों ने प्रेम को जीवन सार कहा था—“रति इक तन में संचरे” तथा कबीर ने प्रेम का एक अक्षर पढ़ने वाले को पण्डित कहा था। सूफी साधक भी प्रेम की धीर के श्रद्धालु थे, कवि लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति अपने काव्य में कर चुके थे। कृष्णभक्ति इसकी प्रेरणा दे रही थी। राम-काव्य में रसिक-सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हो चुका था। इस प्रकार रति या प्रेम भाव को महत्वपूर्ण मान शृंगार के रसराजत्व प्रतिष्ठा रीतिकाल से पहले ही हो चुकी थी। इस प्रकार रीतिकाल से पूर्व ही शृंगार पर भक्ति का आवरण पड़ गया था। रीतिकालीन कवियों ने अपनी वैभव-कालीन उद्दाम शृंगार-भावना को राम-कृष्ण के बहाने से व्यक्त तो किया; किन्तु वह अव्यक्त न रह सकी। और घोर शृंगारी रचनायें इस काल में निर्मित हुईं। यद्यपि उन पर भक्ति का आवरण भी था। इस आवरण की भी नितान्त आवश्यकता थी। भक्तिकाल के पश्चात् आने वाले इस काल के कवियों को समाज की प्रतारणा का भय था, और उन्हें एक मानसिक शरण-भूमि की आवश्यकता थी। इसलिए इस काल के कवियों ने भक्ति की झीनी चादर से शृंगार का तन ढक रखा था। परन्तु यह घूँघट इतना झीना था कि तिरोहित शृंगार छिपाया नहीं जा सका। इन्हें विश्वास था कि “आगे के कवि रीतिहैं तो सुकविताई। नहीं तो राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है।” (दास)।

(रीतिकाल के कवियों ने दूसरी ओर वातावरण के आग्रह तथा द्रव्योपार्जन के लिए भी शृंगार को अपना प्रतिपाद्य बनाया है। (इस काल के अधिकांश कवि दरबारों में रहते थे, वे (राज्याश्रित थे) उन राजाओं का दिल इनका दिल था, उनका मन इनका मन था, उनके संकल्प इनके संकल्प थे। अतः उनकी रुचि के अनुकूल ये निरन्तर शृंगार रस के काव्य का सृजन कर रहे थे।

रीतिकाल के कवियों ने शृंगार रस के दोनों ही पक्षों पर लेखनी चलाई है, किन्तु इनका विशेष आग्रह शृंगार के वियोग पक्ष की ओर रहा है। क्योंकि इन्हें क्षेत्र के विस्तार तथा मार्मिक स्थलों की प्राप्ति यहीं (वियोग शृंगार में) सुविधा-पूर्वक हो सकती थी, इसलिये इन कवियों ने अपने हृदय का समस्त रस वियोग शृंगार में उड़ेल दिया है। वियोग की समस्त दशाओं पर इन कवियों की लेखनी चली है। •

रीतिकाल के कवि संयोग शृंगार के वर्णन में भी पीछे नहीं रहे हैं, (दर्शन, श्रवण, स्पर्श और संलाप का जमकर वर्णन इन कवियों ने किया है। संयोग-शृंगार को व्यक्त करने के लिये इन कवियों ने हाव और अनुभाव का सहारा लिया है।) बिहारी का एक चमत्कार पूर्ण हाव का उदाहरण इस बात का प्रमाण है—

वतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।

सौँह करे भौँहन हँसै देन कहे नटि जाय ॥ (४७२)

इन कवियों ने स्पर्श-मुख का भी वर्णन किया है। देव का एक उदाहरण दर्शनीय है—

स्वेद बढ्यो तन, कंप उरोजनि,

आंखिन आँसू कपोलनि हाँसी ।

रीतिकालीन कवि सुरति का वर्णन करने में भी पीछे नहीं रहा है—बिहारी का एक दोहा देखिए—

चमक तमक हाँसी सिसक, मसक झपट लपटानि ।

ये जिहि रति सो रति मुकुति, और मुकुति अतिहानि ॥

यही नहीं, रीतिकालीन कवियों ने विपरीत-रति का भी जी भर कर वर्णन किया है ।

परयो जोरु विपरीत रति, रूपी सुरति-रनधीर ।

करत कोलहलु किंकिनी, गह्यौ मौन मंजीर ॥ (१२९)

आशय यह है कि इन विलास-प्रिय कवियों ने शृंगार के किसी भी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा है। इनका शृंगारी मन यहाँ खूब रमा है। डा० भगीरथ मिश्र

ने रीतिकालीन कवियों के शृंगार पर विचार करते हुये लिखा है कि—

“शृंगारिकता के प्रति उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भोगपरक था, इसलिये प्रेम के उच्चतर सोपानों की ओर वे नहीं जा सके। प्रेम की अनन्यता, एकनिष्ठता, त्याग, तपश्चर्या आदि उदात्त पक्ष भी उनकी दृष्टि में बहुत कम आये हैं। उनका विलासोन्मुख जीवन और दर्शन सामान्यतः प्रेम या शृंगार के बाह्य-पक्ष शारीरिक आकर्षण तक ही सीमित रहकर रूप को मादक बनाने वाले उपकरण ही जुटाता रहा। यह प्रवृत्ति नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन, ऋतु-वर्णन, अलंकार निरूपण सभी जगह देखी जा सकती है।”^१ रीतिकाल के इन कवियों ने प्रेम और शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये अनेक रास्ते निकाल लिए थे। वर्णन रीतिबद्ध था, किन्तु क्षेत्र व्यापक था। वास्तव में शृंगार उनका प्रतिपाद्य था। साँचा चाहे जैसा भी रहा हो इसमें ढली शृंगारिकता ही है। इसकी अभिव्यक्ति में उन्होंने किसी प्रकार से संकोच नहीं किया। “अतएव काव्य की शृंगारिकता में आप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं,.....न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परन्तु शृंगारिक कुंठाओं से मुक्त थीं। इसी कारण इस युग की शृंगारिकता में घमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं हैं।”^२ वास्तव में रीतिकालीन कवि अपने प्रतिपाद्य के प्रति ईमानदार थे, उनका युग इसी भाव-सागर में लहरें ले रहा था, अतः निर्द्वन्द्व हो इन कवियों ने अपने भावोल्लास को व्यक्त किया है।

रीतिकाल के कवियों ने शृंगार के आलम्बन भूत नायक और नायिकाओं के चित्रण के लिए उनका भेद निरूपण किया, जिसमें नायिका-भेद के प्रति उनकी रुचि अधिक रही क्योंकि लेखक और पाठक के रूप में पुरुषों की लोलुपता तथा संस्कृत की शृंगारिक परम्परा इन्हें आकृष्ट कर रही थी। वैसे भी शृंगार रस का मूलाधार नायिकाएँ ही हैं। शृंगार इसका प्रसङ्ग तो हो किन्तु नायिकाओं का वर्णन न हो यह अस्वाभाविक है। इसलिये रीतिकाल की सबसे बड़ी देन नायिका-वर्णन है। इस देन पर शुद्ध साहित्यकार को गर्व होता है, भले ही आदर्श का डंका पीट-पीटकर हम नायक-नायिका वर्णन को होली की गालियाँ निकालें या पानी पी-पीकर कोसें किन्तु हृदय पर हाथ रखकर स्त्रीकार करना ही पड़ेगा कि नायिका-वर्णन हिन्दी जगत् की अनूठी वस्तु है। यह रीतिकाल की देन है। समस्त रीतिकालीन कवियों

१ हिन्दी-साहित्य: युग और प्रवृत्तियाँ पृ० ३१०

२ डा० नगेन्द्र, रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १५९

ने थोड़ा-बहुत नायिकाओं का वर्णन अवश्य किया है। मतिराम, देव, तोष, रघुनाथ, रसलीन, सोमनाथ, भिखारीदास, पद्माकर, प्रवीन, बेनी, ग्वाल, द्विज आदि कवियों ने तो नायिका वर्णन प्राधान्येन किया ही है किन्तु घनानन्द, जैसे प्रेम-दिवाने कवि ने भी अपने मुक्तकों में नायिका-वर्णन को स्थान दिया है। विहारी ने भी अनेक नायिकाओं का चित्रण किया है, जिनमें लक्षिता, गविता, खंडिता, विदग्धा, मानिनी, क्रिया विदग्धा, उत्कण्ठिता, आगप्तनिका, अभिसारिका, ग्रामीण नायिका आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

रीति काल के शृंगार वर्णन में प्रेम की सम्पूर्ण दशाएँ और समस्त वक्रताएँ इनके स्थूल रूप (शारीरिक) और सूक्ष्म (मानसिक) प्रेम-चित्रणों में उपलब्ध हैं। डा० नगेन्द्र ने रीतिकाव्य की शृंगारिकता का विवेचन कर निष्कर्ष में लिखा है कि— • •

(१) “उसका मूलाधार रसिकता है, प्रेम नहीं। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय, अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमें पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अनीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-संकेत नहीं।

(२) इसीलिए वासना को उसमें अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति-से प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है, न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृंगार उपभोग-प्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमें नहीं मिलती।

(४) इसीलिए इसमें तरलता और छटा अधिक है। आत्मा की पुकार एवं तीव्रता कम।”^१

रीतिकाल के प्रेम की एक विशेषता यह है कि यह प्रेम परकीया प्रेम है। परकीया प्रेम इस युग में लोकप्रिय क्यों हुआ—इसके तीन कारण हैं—क्योंकि इस प्रेम में व्यापक क्षेत्र आ जाता था, जातिगत भेद दूर हो जाता था, अन्मान्य बाधाओं को तिरोहित कर उपभोग का आनन्द, आत्माभिव्यक्ति का विश्वास, क्षेत्र और प्रेम मार्ग की वक्रताओं की सुविधा इसके लिए उत्तरदायी है। दूसरे भक्ति काल की माधुर्य भक्ति में अनन्त जीवों की एक आराध्य के प्रति आत्म समर्पण की भावना

की सुविधा और तीसरे उर्दू-फारसी कवियों के काव्य की प्रेम-व्यंजना ने इस काल के कवियों को परकीया प्रेम पर लिखने के लिए प्रेरित किया है।

अलंकारिकता—रीतिकाव्य अलंकृत काव्य है, रीतिकालीन कवि अलंकारों के माध्यम से अपने पाठकों को चमकृत करते हैं। यह युग भी चमत्कार-प्रधान था, राजसी-वैभव, प्रदर्शन की प्रवृत्ति और रसिकता ने इसके विकास में योगदान दिया है। डा० नगेन्द्र के अनुसार शृंगार का बाह्य रूप प्रधान होने के कारण अलंकार का प्राधान्य उस वातावरण में अनिवार्य भी था। इस युग के कवियों का उक्ति-चमत्कार अथवा कथन की वक्रता आर्कषण का आधार था। इसीलिए इस युग के कवियों ने चमत्कार-मूलक श्लेष, यमक और अनुप्रास अलंकार का विशेष प्रयोग किया है। “बिहारी ने ऐसे चमत्कार मूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है, जिन्हें देखकर पाठक आश्चर्य चकित होकर दाद देने पर भी कभी-कभी बाध्य हो जाता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि कोरे शाब्दिक चमत्कार प्रदर्शन में रसोद्रेक की क्षमता कुछ समाप्त सी हो जाती है। प्रभाव उत्पादन के लिए यदि सीमा के अन्तर्गत अतिशय मूलक अलंकारों का प्रयोग किया जाये तो निश्चित रूप में काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि होती है, किन्तु जब कवि सीमा का अतिक्रमण करके दूर की कौड़ी पकड़ने लगता है, तो वहाँ हास्यास्पदता आ जाती है। बिहारी और केशव ने चमत्कार की अतिस्पृहा से ऐसे ऊहात्मक प्रयोग किये हैं कि शोभा सृष्टि के स्थान पर अशोभनता आने लगी है। शुक्ल जी ने कदाचित् बिहारी की इसी अति-रजना को देखकर उसकी सासों के हिंडोल में झूलने वाली नायिका को घड़ी के पैडुलम की उपमा दे दी। केशव तो अलंकारों के मोह में इतने ग्रस्त थे कि उन्होंने रामचन्द्र को उल्लू की उपमा दे डाली और ग्रामीण-बालाओं से श्लेष अलंकार में वार्तालाप करने लगे।”^१ इस दृष्टि से बिहारी विशेष रूप से चमत्कार-प्रिय हैं, अन्यथा इस युग के अन्य रीति कवि बहुत ही सुन्दर एवं स्वाभाविक अलंकारों का प्रयोग करते हैं। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि रीतिकालीन कविता अलंकार प्रधान है, चमत्कार-प्रिय है।

(रीतिकालीन कविता में हमें नीति और बहुज्ञता प्रदर्शन के लिए कवियों के अनेक दोहे उपलब्ध होते हैं, जिनमें नीति-सम्बन्धी अनेक सूक्तियाँ मिलती हैं, किन्तु ये नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ न तो उनके राजनीतिक ज्ञान की परिचायक हैं और न उनके व्यापक ज्ञान की, और न ही वे उनके जीवन दर्शन को ही व्यक्त करती हैं। इसके विपरीत इन नीति विषयक दोहों में उनकी चमत्कार प्रियता ही व्यक्त होती है।)

रीतिकालीन के इन कवियों का जीवन-दर्शन क्या था? “प्रत्येक महान

कवि का अपना जीवन-दर्शन होता है, भक्ति-कालीन अथवा उनसे भी पूर्ववर्ती कवियों ने अपने साहित्य में अपना जीवन-दर्शन व्यक्त किया है, किन्तु रीतिकालीन अधिकांश कवियों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।” क्या राजनैतिक क्षेत्र में और क्या सामाजिक क्षेत्र में, सर्वत्र ही वैयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह निःशेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी; केवल रीतियों की दासता मात्र रह गई थी, जो कि रीति काव्य में प्रतिफलित हुई है।”^१

काव्य रूप—रीति काल की कविता चमत्कार प्रदर्शन और प्रशंसा प्राप्ति के लिए लिखी जाती थी। धनिक वर्ग और उच्च वर्ग की रसिक भावना की तृप्ति के लिए वह लिखी जाती थी। इस उद्देश्य की पूर्ति महाकाव्य या खण्ड काव्य से नहीं हो सकती थी; अतः इस काल की कविता के लिए मुक्तक शैली अधिक उपयुक्त थी, मुक्तक में चमत्कार प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। इसलिए भी मुक्तक काव्य को इस युग में विशेष प्रश्रय मिला है। इस काल के कवियों ने जीवन का अपूर्ण पक्ष ग्रहण किया, इस काल में समर्थ नायक का अभाव घटनाचक्र की न्यूनता, दरबारी वातावरण, लक्षण ग्रन्थों के उदाहरणार्थ, उर्दू शायरी से प्रति-द्वन्दिता, जीवन-दर्शन का अभाव, भक्ति काल की मुक्तक कविता आदि कारणों ने रीति काल में भी मुक्तक-काव्य को विशेष महत्व प्रदान किया है। सर्वाधिक महत्व-पूर्ण बात यह है कि लक्षण ग्रन्थों के इस निर्माण-काल में मुक्तक-काव्य ही विशेष उपयोगी हो सकता था, और चमत्कार प्रदर्शन भी कर सकता था, रीतिकालीन भावना के लिए यही उपयोगी भी था।

यद्यपि रीति काल में कुछ प्रबन्ध और खण्ड काव्य भी लिखे गए हैं किन्तु मुक्तकों के समक्ष वे लोकप्रिय नहीं हो सके।

रीतिकाल के कवि भाव तथा कला दोनों ही दृष्टियों से अपना चमत्कार प्रदर्शित करते थे, इसलिए इनकी कविता के ये दोनों ही पक्ष चमत्कार की चकाचौंध से पूर्ण हैं। इनका काव्य स्वस्थ जीवन का सहज प्रोद्भस न होकर कृत्रिम है। यह इस युग के सभी कवियों की विशेषता है।

रीतिकाल के कवियों में मौलिक उद्भावनाओं का अभाव है, इनके भाव तो स्वयं अपने थे ही नहीं, साथ ही उन भावों की योजना भी अपनी न थी, इन कवियों ने जिनसे ग्रहण किया उसका ऋण भी कहीं स्वीकार नहीं किया है।

(इस काल के कवियों ने शास्त्र और कवि कल्पना का समन्वय किया है। संस्कृत में कवि और आचार्य का भेद अलग-अलग था, वह हिन्दी साहित्य में आकर लुप्त हो गया है। इन्होंने कवि होने के साथ शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने का यत्न सर्वत्र

किया या शास्त्र को सामने रखकर किया ।

(रीतिकालीन कविता की भाषा भी अलंकृत है) सूर और तुलसी की कविता भी अलंकृत थी, किन्तु उसमें स्वाभाविकता थी, इसके विपरीत रीति कवि अलंकारों का प्रयोग अलंकार के लिए करते थे ।

(रीतिकाल के कवियों ने अन्य कालों की अपेक्षा लक्षणा और व्यंजना का अधिक प्रयोग किया है । रहीम, घनानन्द, बिहारी-देव आदि प्रधान-कवियों में यह प्रवृत्ति विशेष है ।)

(रीति कवियों ने माधुर्य-गुणोचित शब्द विन्यास का अधिक प्रयोग किया है) अतः इस काल की कविता में माधुर्योचित-कोमल कान्त-पदावली विशेष रूप से प्राप्त है । यह ललित-पदविन्यास शृंगारिक कविता में अपना विशेष चमत्कार दिखलाकर पाठकों को आकृष्ट भी करता है । “संगीत के रेशमी तारों में इनके शुद्ध-माणिक-मोती की तरह गुथे हुए हैं—ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावलि अन्यत्र दुर्लभ है ।”^१

रीतिकाल के कवियों ने अपनी भाषा में शब्दों को खूब तोड़ा और मरोड़ा है, विशेषकर यह प्रवृत्ति भूषण, देव आदि में मिलती है, बिहारी ने ऐसा कम किया है । वैसे रीतिकाल के कवियों की शाब्दिक क्रीड़ा प्रसिद्ध है, इसी शाब्दी-क्रीड़ा के द्वारा वे काव्य में चमत्कार उत्पन्न करते हैं । निस्सन्देह रीति कवियों जैसी वाक्य रचना और उसकी क्षमता दूसरे कवियों में कम ही मिलती है ।

(रीतिकाल की अन्य सामान्य प्रवृत्तियों में वीर काव्य की रचना, संतकाव्य की रचना, राम-कृष्ण-भक्ति-काव्य की रचना, और प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा भी दर्शनीय हैं । भक्ति काल की अधिकांश काव्य-परम्पराओं का इस युग में सफल निर्वाह हुआ है । इसके अतिरिक्त लक्षण ग्रन्थों का निर्माण, ब्रजभाषा की प्रधानता, बहुज्ञता, प्रदर्शन आदि सामान्य प्रवृत्तियाँ भी इस युग के काव्य में मिलती हैं । किन्तु प्राधान्येन इस युग में शृंगार, अलंकरण, और भक्ति की प्रधानता रही है, तथा यह काव्य प्रायः राज्याश्रय में ही लिखा गया है—“मध्ययुगीन रीति-काव्य का विश्लेषण करने पर हमें इन प्रमुख प्रवृत्तियों का पता चलता है । पहली प्रवृत्ति तो यह है कि इस समय का अधिकांश काव्य राज्याश्रम में लिखा गया, जिससे जहाँ एक ओर कवि-प्रतिभा का निखार और कला को संरक्षण मिला, वहीं दूसरी ओर झूठी प्रशंसापूर्ण तथा शृंगार और विलास का खुलकर चित्रण भी हुआ । इन गुणों और दोषों में कोई नगण्य नहीं है । दूसरी प्रवृत्ति अलंकृत काव्य लिखने की है, जो प्रथम प्रवृत्ति का परिणाम है । आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए उक्ति-चमत्कार एवं शब्दों की बाजीगरी भी खूब प्रदर्शित की गई है । दूसरे शब्दों में, वह अलंकार-प्रधान

काव्य है। कवि अपने काव्य को सजाने और संवारने में पूर्णतः सचेत है और अधिकांश में कवि का अलंकार प्रयोग सहज नहीं है। तीसरी प्रवृत्ति है शृंगार की, जिसके अन्तर्गत काम-वासना और नारी-सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। कामशास्त्र के ग्रन्थों की बातें नायिका-भेद और संयोग-शृंगार-वर्णन में संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों द्वारा ही सम्मिलित कर ली गई थीं, अतः उनका उल्लेख भी इन ग्रन्थों में हुआ है जो कि काव्य के अन्तर्गत कहीं-कहीं अत्यन्त सफल रूप में व्यंजित हुआ है। कहीं-कहीं काम सम्बन्धी यह पक्ष काव्य-सौन्दर्य के उज्ज्वल रूप में कालिमा लगाता है और काव्य इस पक्ष को केवल सीमित और एकान्त पाठ के ही उपयुक्त बना देता है। चौथी प्रवृत्ति भावना की है। चाहे मंगलाचरण के रूप में, अथवा मध्यकाव्य के भीतर, कहीं-कहीं भक्ति भावना अवश्य आ जाती है। इस युग में भक्त-कवि अनेक हुये सौ तो हुये ही। विशुद्ध शृंगारी काव्य लिखने वाले देव, बिहारी, दास, पद्माकर आदि के भी भक्ति सम्बन्धी छन्द महत्त्व के हैं। दास की यह पंक्ति आगे के कवि, रीझि हैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है” रीति-काव्य के अधिकांश के लिये खरी उतरती है।”^१

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी का रीतिकालीन काव्य शुद्ध कलात्मक दृष्टिकोण से अपूर्व है इस काल के कवियों ने कविता-कामिनी तन और मन का जमकर शृंगार किया है तथा इन कवियों की चित्र निर्माण क्षमता भी अभूतपूर्व है। इन कवियों की लोकप्रियता भी किसी भक्त कवि से कम नहीं है, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण के अभाव तथा एकान्त शृंगार प्रियता के कारण इस युग का एक भी कवि सूर-तुलसी और प्रसाद के समकक्ष खड़ा नहीं हो सकता। लोक जीवन का मार्ग निर्देशन इनमें नहीं मिलता, कवि के व्यापक महत्व की अपेक्षा इन कवियों ने मनोरंजन तथा चमत्कार को ही काव्य का एकमात्र ध्येय माना था। इस ध्येय की पूर्ति में इस काल के सभी कवि सफल हुये हैं।

रीतिकाल का नामकरण—

इतिहास के विद्यार्थी के समक्ष अनेक समस्याएँ होती हैं, इन समस्याओं के अन्तर्गत काल-विभाजन की समस्या और नामकरण की समस्या प्रमुख हैं। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास के समक्ष संवत् १७०० से १९०० के अन्तराल का काल भी विवादास्पद है। विशेषरूप से काल का नामकरण। साहित्यिक काल का नामकरण प्रायः प्रवृत्ति, रचनाशैली, रचना रूप अथवा व्यक्ति के आधार पर हुआ करता है।

हम नामकरण के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के बिचारों का तर्क संगत विवेचन प्रस्तुत कर देखने का प्रयास करेंगे कि इस काल का कौन सा नाम अधिक युक्ति संगत है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा इन्हीं तत्वों के आधार पर रखी है। उनका वक्तव्य इस प्रकार है “जिस काल खण्ड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है।”^१ प्रवृत्ति की प्रधानता निस्सन्देह महत्वपूर्ण है क्योंकि रचना-शैली (गद्य-पद्य) और रचना रूप (रासो आदि) में भी एक विशिष्ट प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और किसी व्यक्ति को नामकरण का आधार उसी स्थिति में बनाया जा सकता है, जब वह साहित्य की अधिकांश प्रवृत्तियों का नियामक हो। इस प्रकार मूलतः किसी काल के नामकरण का अन्तिम निर्णायक तत्व प्रवृत्ति ही बन सकती है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का संवत् १७०० से १९०० तक का काल नामकरण की दृष्टि से विशेष विवादास्पद है। इस विवाद में मिश्रबन्धु, आचार्य शुक्ल, डा० रसाल एवं पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र महत्वपूर्ण हैं।

अलंकार-काल या अलंकृत-काल :—मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन करते हुये तथा कथित रीतिकाल का नामकरण ‘अलंकृत-काल’ किया है। इस अलंकृत काल नामकरण के मूल में उनकी क्या मान्यता है, वे लिखते हैं कि “रीतिकालीन कवियों ने जितने आग्रह के साथ रचनाशैली को अलंकृत करने का यत्न किया है उतना अन्य किसी भी काल के कवियों ने नहीं। जब भाव सीमित हो उस समय जितने हों उन्हें ही जगमगाने में वे लग गये। अतः इस प्रवृत्ति के कारण यह काल अलंकृत-काल है।” साथ ही इस काल के महान् कवियों ने अधिकांश अलंकार-निरूपक ग्रन्थ लिखे हैं। महाराज जसवन्तसिंह का ‘भाषा-भूषण,’ मतिराम का ‘ललित-ललाम’ केशव की ‘कविप्रिया,’ और ‘रसिकप्रिया,’ सुरति मिश्र की ‘अलंकार-माला’। इसी काल के सम्बन्ध में विचार करते हुये डा० नगेन्द्र ने भी इस काल की अलंकरण प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुये लिखा है “समय की प्रवृत्ति और तदाश्रित काव्य-प्रेरणा चूंकि अलंकरण के ही अनुकूल थी निदान उसने अलंकरण ही में विशेषता प्राप्त की। अपने काव्य से रूप आकार को उन्होंने कई प्रकार से अलंकृत किया— एक तो प्रत्यक्षतः शब्द और अर्थ के अलंकारों का प्रयोग करके, दूसरे भाषा की

व्यंजनात्मक शक्ति और कहीं-कहीं लक्षणा का भी उपयोग करके और तीसरे माधुर्य-गुणोचित शब्दों तथा कोमल-वृत्ति का सयत्न प्रयोग करके ।”^१

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल की प्रवृत्ति साहित्य और उसके बाहर सर्वत्र अलंकरण की ही थी। इस अलंकृत काल को भी उन्होंने पूर्वालंकृत काल सं० १६८१-१७९० तथा उत्तरालंकृत काल सं० १७९१-१८८९, इन दो कालों में वर्गीकृत किया है। इस प्रसङ्ग में हम मिश्र बन्धुओं के काल विभाजन की असङ्गतियों के उल्लेख की अपेक्षा अपने अभिधेय अलंकृत काल के नामकरण पर ही विचार करेंगे। इस अलंकृत काल का नामकरण करते हुये आन्तनिक प्रवृत्तियों का यद्यपि सहारा लिया गया है, और इस अलंकरण से उनका आशय रचना की प्रौढ़ता तथा भाषा की अलंकृति से है। जैसा कि स्वयं उन्होंने लिखा है कि—“पूर्वालंकृत प्रकरण में सात अध्यायों द्वारा भूषण और देवकाल का कथन है और उत्तरालंकृत प्रकरण में दास पद्माकर काल वर्णित है। इन दोनों प्रकरणों के नाम ‘अलंकार’ लिए हुये इस कारण से रखे गये हैं कि इस समय के कवियों ने सालंकार भाषा लिखने का अधिक प्रयत्न किया।”^२ विनोद के दूसरे भाग में इसी बात का पुनः स्पष्टीकरण करते हुये लिखते हैं कि “इस काल का सर्वप्रधान गुण यह है कि इसके कवियों ने भाषा को अलंकृत करने में पूरा बल लगाया। प्रौढ़ माध्यमिक में भाषा भली भाँति परिपक्व हो चुकी थी, अतः पूर्वालंकृत काल में कवियों ने हिन्दी को भाषा सम्बन्धी आभरणों से सुसज्जित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार श्रुति-मधुर और सुष्ठु होने लगी, फिर भी ये कविगण भाव बिगाड़कर भाषा ललित लाने का प्रयत्न नहीं करते थे।”^३

(इस नामकरण के सम्बन्ध में विचार करने पर हम देखते हैं कि जिस अलंकरण को मिश्रबन्धु नामकरण का आधार बनाते हैं, वह अलंकरण की प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य के आदिकाल से आज तक अक्षुण्ण है। तुलसी ने भी ‘छन्द पुरन्द अनेक विधाना’ कहकर इस प्रवृत्ति के प्रति सजगता व्यक्त की है और आरम्भिक काव्यों का कोई भी पद उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि अलंकारों से रहित नहीं है। अतः पूर्व और परवर्ती कालों से अलंकृत काल को विभक्त करने वाली विभाजक रेखा स्पष्ट नहीं है।

आज जब अनेक आलोचक इस काल की आन्तरिक प्रवृत्ति शृंगार को

१ रीति काव्य की भूमिका, पृ० १६५-६६

२ मिश्रबन्धु विनोद प्रथम भाग, प्रथम संस्करण पृ० १६

३ मिश्रबन्धु विनोद द्वितीय भाग, प्र०सं० पृ० ४३१-३२

स्वीकार करते हैं, उस स्थिति में इस नाम का क्या महत्व रह जाता है वह विचारणीय है।

साहित्य की बाह्य परिस्थितियाँ अलंकरण की थीं, यह ठीक है, परन्तु साहित्यिक काल के नामकरण का इसे निर्णायक तत्व नहीं माना जा सकता।

नामकरण में गौणरूप से उपविभाग की जो योग्यता आवश्यक है, वह भी यहाँ नहीं है क्योंकि मिश्रबन्धुओं का देवकाल, मतिरामकाल, नामक काल विभाजन भी अस्पष्ट है क्योंकि यह कोई ऐसा आधार नहीं है, जिसे मानकर यह विभाजन करें।

इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात और भी है कि इस अलंकृत काल की भाषा एवं साहित्य को कवि सुसज्जित करने का यत्न करता था और यह कार्य एक सजग कलाकार ही कर सकता था, किन्तु “जहाँ अलंकारों की प्रधानता होती है अथवा जहाँ कवि जान-बूझकर भाषा को अलंकारों से सुसज्जित करना चाहता है, वहाँ भावानुभूतियाँ दब जाती हैं। भाषा को अलंकृत करने के प्रयास और भावों में विकृति न आने देने के प्रयत्न में एक असंगति दिखाई पड़ती है। भाषा भावानु-गामिनी है, भाव भाषानुगामी नहीं है। पर इस काल को अलंकृत काल कहते हुये भी मिश्रबन्धु तत्कालीन कविता में अभिव्यक्त शृंगारिक अनुभूतियों के सहज आकर्षण से विरक्त न हो सके। ऐसी स्थिति में इस काल की समस्त प्रवृत्तियों को अलंकृत शब्द की संकीर्ण सीमायें अपने में समाहित नहीं कर पातीं।”

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि इस काल के केशव एवं बिहारी को छोड़कर अन्य कवि भावाभिव्यक्ति में ही रमते हैं। मतिराम, देव, पद्माकर की कविता अलंकृत काव्य में स्थान ग्रहण करने की अपेक्षा सहज भावोच्छ्वास की अभिव्यक्ति है। “इन कवियों की कीर्ति इनके रसस्निग्ध उदाहरणों पर निर्भर है न कि भाषागत अलंकार योजना पर। इस काल के प्रतिनिधि कवियों ने नायक-नायिका भेद के लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किये ये रस के अन्तर्गत आते हैं, न कि अलंकार के।”^१ उपर्युक्त आधार पर मिश्रबन्धुओं का यह नामकरण निश्चय ही संकीर्ण है, अतः इस काल को अलंकृत काल की संज्ञा देना अनुचित एवं अवैज्ञानिक है।

‘कला-काल—रमाशंकर शुक्ल रसाल :—

भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में शाहजहाँ का शासन काल शान्त एवं

१ डा० बच्चन सिंह: रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० ३

२ डा० बच्चन सिंह: रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० ३

साहित्य तथा कला के विकास के लिए महत्वपूर्ण था। एक ओर स्थापत्य कला का चरम बिन्दु ताज देखने को मिलता है, तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल और परिष्कृति रुचि देखने को मिलती है। यह काल वैभव से सम्पन्न काल भी था। वैभव में विलास और कलात्मक उन्नति को भी अवसर मिलते हैं।

इसी काल में निर्मित साहित्य में प्रतिपाद्य की अपेक्षा शैली तत्व को कवियों ने विशेष महत्व प्रदान किया है। इस काल के साहित्य में चित्रकला का पुट भी सहज देखा जा सकता है। अतः इस काल को कला काल कहना उपयुक्त होगा।

(किन्तु रसाल जी का यह नामकरण भी विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इस काल की मूलधारा शृंगार अथवा रीतिबद्ध काव्यों के सृजन की रही है। जनरुचि शृंगार की ओर विशेष आकृष्ट रही है। अतः यह कलात्मक बाह्य आवरण सहृदय रसिकों को अपनी ओर विशेष आकृष्ट नहीं कर सका है।) इस काल का रसिक शृंगार के बिना अपने को असहाय सा अनुभव करता है। (इसके अतिरिक्त कला की प्रवृत्ति सं० १९५० तक निर्मित समस्त साहित्य में देखी जा सकती है, छायावादी काव्य-धारा भी कला की उपेक्षा नहीं कर सकी है, अतः यह कलात्मक रुचि केवल रीतिकालीन साहित्य की अपनी विशेषता नहीं है। यह तो साहित्य की अपनी विशेषता है। इसे नामकरण का आधार मानना न न्यायसंगत है और न तर्क संगत।)

रीति-काल : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने संवत् १७०० से १९०० तक के समय को रीतिकाल कहा है, और रीतिकाल की अखण्ड परम्परा वे केशवदास के ५० वर्ष पश्चात् चिन्तामणि त्रिपाठी से मानते हैं। “हिन्दी रीति-ग्रन्थों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए।”^१ इस काल में लक्षण ग्रन्थों की भरमार सी होने लगी। आचार्य शुक्ल के मत में इस काल के “कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सबैया लिखना।”^२ इस प्रकार के लेखकों को शुक्ल जी ने रीतिग्रन्थकार कहा है और तथाकथित रीतिकाल में रीतिग्रन्थों और रीतिग्रन्थकारों की अविरल परम्परा है। चिन्तामणि, देव, मतिराम, भिखारीदास, बिहारी और पद्माकर इसी मार्ग के अनुयायी हैं। इनके ग्रन्थ भी इसी परम्परा के अनुयायी हैं। किन्तु क्या शुक्ल जी का ‘रीति’ शब्द संस्कृत की विशिष्टा पद रचना का सूचक है, जहाँ रचना कौशल ही

काव्य का सर्वस्व माना गया है। लेकिन हम देखते हैं कि हिन्दी में रीति शब्द प्रकृत अर्थ में गृहीत नहीं है। फिर भी यह शब्द संस्कृत के काव्यशास्त्र का पर्यायवाची है भले ही हिन्दी रीतिकाव्य में वह व्यापकता, सूक्ष्मता एवं गम्भीरता न हो, इसके अतिरिक्त हिन्दी-संस्कृत के रीति-ग्रन्थों की रचना पद्धति में भी मूलभूत अन्तर है, उदाहरण के लिए संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्री अपने लक्षण लिखकर पूर्ववर्ती कवियों के काव्य पर उसे कसते थे, उनके उदाहरण देते थे, किन्तु हिन्दी का रीति-काव्य संस्कृत के परवर्ती काव्यशास्त्रियों पण्डितराज जगन्नाथ एवं पीयूषवर्षी जयदेव आदि का अनुयायी है, जो स्वयं लक्षण लिख स्वयं ही उदाहरण भी लिखते हैं। आशय यह है कि “हिन्दी का रीति शब्द न तो संस्कृत के रीति सम्प्रदाय से सम्बद्ध है और न रीतिग्रन्थ संस्कृत के अलंकारशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र का समानार्थी है। हिन्दी में यह अपने विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

रीतिकालीन कवियों ने अनेकशः रीति शब्द से रस, अलंकार, ध्वनि आदि की ओर संकेत किया था। अनेकशः काव्य रीति, रस रीति, अलंकार रीति, आदि का प्रयोग भी उन्होंने किया था। स्वयं भिखारीदास ने भी लिखा है—

‘काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों देखी सुनी बहुलोक की बातें।’

तथा चिन्तामणि ने

“रीति सुभाषा कवित्त की, वरनत बुधि अनुसार”

रीति शब्द का प्रयोग किया था। शुक्ल जी को रीति शब्द यहीं से मिला था, अतः शुक्ल जी ने इस रीति शब्द की विशिष्ट विवेचना न कर इसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया है; जैसा कि डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है—“वह बहुत पहले से हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्ल जी ने कहीं उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नहीं की। शब्द स्वयं इतना सर्वपरिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी शुक्ल जी की शास्त्रनिष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था, वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व ‘रीति’ शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण ग्रन्थों के लिए भी जिनमें रीति कथन तो नहीं है, परन्तु रीति बन्धन निश्चित रूप से है, ‘रीति’ संज्ञा शुक्ल जी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्ल जी ने कुछ अंशों में वामन के रीति शब्द को केवल एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीति-ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति कवि नहीं है, वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीतिबद्ध हो वह भी रीति कवि है।”^१)

इस विवेचन के पश्चात् हम देखते हैं कि इस काव्य की अन्तरंग-धारा 'रीति' है, अतः इसका नाम 'रीतिकाल' उचित है। किन्तु इस काल का रीतिकाल नाम रख देने पर कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं। (रीतिबद्ध काव्यों के आधार पर जब इसका नामकरण किया गया है, तो इस काल के रीतिमुक्त धारा के कवियों को कहाँ प्रतिष्ठित किया जाय। आचार्य शुक्ल के अनुसार यदि उन्हें 'फुटकल' कोटि में रखा जाय, तो यह उन कवियों और उनके काव्य के साथ सर्वथा अन्याय होगा, क्योंकि इन रीतिमुक्त घनानन्द, बोधा आदि कवियों का काव्य रीतिबद्ध कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक स्वस्थ, मार्मिक तथा स्वाभाविक है, उसका परिमाण भले ही कम हो, किन्तु घनत्व और गाम्भीर्य कम नहीं। इन रीतिमुक्त कवियों की भाषा उनसे स्वस्थ और दोषरहित तथा अभिव्यंजना-शैली अधिक लक्षणा-व्यंजना पूर्ण है।

रीति-परम्परा भक्तिकाल में भी विद्यमान थी, 'भाषा में अवधी और ब्रज' दोहा, चौपाई और पद रचना, आचार्य न कहलाने की प्रवृत्ति, दरवार से पृथक, रहने की प्रवृत्ति, रीतिबद्ध रूप में सभी कवियों में पाई जाती है। तुलसी के बराबर तो रीतिवादी कवि कोई नहीं है।

शृंगारकाल : विश्वनाथप्रसाद मिश्र ।

रीतिकाल की कविता का अध्ययन कर हम देखते हैं कि (रीतिकाल के अधिकांश कवि, कवि पहले थे, लक्षण ग्रन्थकार बाद में। शृंगार उनकी कविता का लक्ष्य है, लक्षण ग्रन्थ साधन। इसलिए उनके लक्षण ग्रन्थों के उदाहरण इतने सुन्दर नहीं हैं जितना उनकी फुटकल रचनाएँ। शृंगार की आन्तरिक प्रवृत्ति के कारण ही साहित्य में नायक-नायिका भेद, नवरस परम्परा, तथा षड् ऋतु-बारहमासे महत्वपूर्ण हो गए। कविता पक्ष सुन्दर है, ऐसा प्रतीत होता है इस कार्य में कवियों का मन रमा है। रीतिग्रन्थ तो केवल इस बात को सिद्ध करने के लिए लिखे गए हैं कि हमें भी रीति का ज्ञान है।

(इस काल की अधिकांश शृंगारमय रचनाओं में शृंगार का ही विवेचन है। 'नवरस' की पुस्तकों में शृंगार रस ने शेष रसों के लिए आठ-दस पद ही छोड़े हैं। यदि भूषण के भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, भूषण हजारा ग्रन्थ मिलें तो वे भी सम्भवतः शृंगार रस के ग्रन्थ ही सिद्ध हों।)

इस काल के कवि, राजा, दरबारी-जन और सामान्य जनता सभी ऐश्वर्य और विलास में डूबे शृंगार रस में स्नान कर रहे थे, इसीलिए सम्भवतः विहारी की अधिकांश टीकायें शृंगार-परक हैं। इस काल में निर्मित संस्कृत और फारसी साहित्य भी शृंगारमय था।)

(इस काल को शृंगार-काल नाम दिया जाय, तो रीतिमुक्त परम्परा के कवि

भी अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किए जा सकते हैं और एक सूक्ष्म विभाजन भी संभव हो सकता है—

रीतिबद्ध—	(१) लक्षणबद्ध	—	लक्षण गन्थ
	(२) लक्ष्य मात्र	—	सतसई साहित्य
रीतिमुक्त—	(१) आध्यात्मिक प्रेम	—	घनानन्द
	(२) शुद्ध प्रेम	—	ठाकुर }

शृंगार काल नामकरण के समर्थक रीतिकाल नाम पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि शुक्ल जी घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि को फुटकल खाते में डालते हैं, क्योंकि ये “रीति” के अन्तर्गत नहीं आते हैं। ‘शृंगार काल’ नाम रख देने पर इस समस्या का सहज समाधान हो जाता है, किन्तु शृंगार काल नाम देकर मिश्र जी ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है क्योंकि शुक्ल जी ने स्वयं अपने इतिहास में इस नाम की ओर भी संकेत किया है—

“वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार काल कहे तो कह सकता है।”^१ एक बात और भी है यदि रीतिकाल का नाम शृंगार-काल कर भी दिया जाय, तो भी फुटकल खाता तो बना ही रहता है, क्योंकि भूषण, तथा अनेक नीति और उपदेशपरक काव्य लिखने वाले कवियों को आप कहाँ ले जायेंगे ? इनके लिए तो वह खाता खोलना ही होगा। “जहाँ तक घन आनन्द का प्रश्न है, वे रीति मुक्त है, स्वच्छन्दतावादी हैं, किन्तु घनानन्द और प्रवृत्ति की दृष्टि से उनसे कुछ मिलते-जुलते कवि स्वच्छन्दता दिखाने पर भी रीतिकाल के प्रभाव से बच नहीं सके हैं। उन पर स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में रीतिकालीन रूढ़ियों का निश्चित प्रभाव लक्षित होता है। अतः घनानन्द का अवलंब लेकर भी रीतिकाल के समक्ष शृंगार काल नाम का औचित्य नहीं सिद्ध होता।”^२

हमारा अपना विचार यह है कि किसी काल का नामकरण उस काल विशेष की प्रवृत्ति विशेष के आधार पर होना चाहिये, जो प्रवृत्ति उस काल के कवियों को काव्य लिखने की प्रेरणा देती हो। इस काल की मूलभूत प्रेरणा एक शैली विशेष थी, जो अधिकांश कवियों में समान रूप से दृष्टिगत होती है। इसे शुक्ल जी ने दृष्टिकोण विशेष मानते हुए ‘रीति’ कहा है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भी इस ‘रीति’ के अस्तित्व और नाम को स्वीकार करते हुए १७०० से १९०० बि० सं० के अन्तरकाल को हिन्दी साहित्य की दृष्टि से रीतिकाल कहा है... .. “पीछे के जो कवि

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४१

२—दुर्गाशंकर मिश्र : हिन्दी काव्य मंथन, पृ० १५९

हुए, उन्होंने काव्य कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक-एक अलंकार, एक-एक नायिका अथवा एक-एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीति ग्रंथ लिखे कवि कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिन्दी साहित्य के इस काल को हम इसीलिए रीतिकाल कहते हैं।^१ डा० नगेन्द्र ने भी इस काल को रीतिकाल ही माना है। वे लिखते हैं कि “शुक्ल जी के उपरान्त कुछ आलोचकों ने इस काल को रीतिकाल की अपेक्षा अलंकार काल या शृंगारकाल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव, विहारी, देव, पद्माकर आदि के काव्य-विशेष को जिसमें रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन अथवा उन नियमों का बन्धन है, रीति-काव्य के ही नाम से पुकारते हैं।”^२ इन विद्वानों के अतिरिक्त डा० गुलाबराय^३ तथा डा० भगीरथ मिश्र^४ ने भी इसे रीतिकाल कहना ही अधिक तर्क संगत माना है।

५

रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त काव्यधारा

रीतिकालीन कविता की आत्मा शृंगार है, अधिकांश साहित्य शृंगार भावना को लेकर लिखा गया है, विशेष रूप से संयोग शृंगार को महत्व प्राप्त है, और इस काल के साहित्य का शरीर रीतिबद्ध शैली में निर्मित हुआ है। परन्तु इस रीतिबद्ध काव्य परम्परा के अतिरिक्त वहाँ एक स्वच्छन्द रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों ने अन्धानुकरण की अपेक्षा अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः स्वतन्त्र रखते हुए, हृदयगत अनुभूतियों को निर्बाध रूप में व्यक्त किया है। इन कवियों ने न तो महाकाव्य लिखा और न खण्ड काव्य, और न ही सतसई साहित्य; अपितु फुटकल पदों में जीवन की हार्दिक अनुभूति को मार्मिकता एवं भाव प्रवणता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। इन कवियों में घनानन्द, बोधा, ठाकुर और आलम विशेष उल्लेखनीय है। इन कवियों पर किसी काव्य सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव भी नहीं है, इसकी अपेक्षा इनमें प्रेम की तन्मयता, एकनिष्ठता और प्रेम की पीर है। इनके प्रेम की यह पीर

१ डा० श्यामसुन्दर दास हिन्दी साहित्य, पृ० २४१

२ रीति काव्य की भूमिका पृ० १३०

३ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास पृ० ११८

४ हिन्दी रीति-साहित्य पृ० २०-२१

किसी से उधार ली हुई न होकर स्वयं अपनी है। अतः हृदय स्पर्शी कसक सर्वत्र है। भौतिक वासनाओं की अपेक्षा सूक्ष्म तारों को अधिक झंकृत करने वाली है। इनके शृंगार में वियोगपक्ष की प्रधानता है। इस प्रकार रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त कवियों की भिन्नता का मूल-आधार उनका प्रतिपाद्य, शैली, भाषा, एवं छन्द पर निर्भर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पूर्व परम्परा से बँधकर चलना चाहता है तो दूसरा उस परम्परा का परित्याग कर। यही इन धाराओं का भेदक लक्षण है।

रीतिबद्ध परम्परा के समक्ष सदैव लक्षण-ग्रन्थों के नायिका भेद एवं अलंकारों के लक्षण रहते थे, इस काल के इन रीतिबद्ध कवियों ने या तो साहित्य का निर्माण लक्षणों के लिए किया या लक्षणों का ध्यान रख कर किया। इस शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं देव, मतिराम, बिहारी, और चिन्तामणि आदि। किन्तु रीतिमुक्त परम्परा के कवि भावुक जीव थे, इनके पद्यों में भी चाहे नायक-नायिका भेद को खोज निकाला जाय, फिर भी इतना स्पष्ट ही है कि इन कवियों की साधना सायास नहीं थी, यद्यपि रीति के तत्व उनमें भी मिलते हैं। किन्तु उसके लिए आग्रह नहीं है। इस वर्ग में घनानन्द, बोधा, ठाकुर एवं आलम आदि कवि महत्वपूर्ण हैं।

(रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियों का प्रतिपाद्य विषय प्रेम और शृंगार है, और उनका यह प्रेममार्ग योजनाबद्ध, नाना वक्रतत्वों से संकुल है और बुद्धिव्यवसाय से आक्रान्त है। भावों का वैभव न होकर यहाँ योजनाओं का वैभव दर्शनीय है, बहानेबाजी का प्राचुर्य है) “केलि कराति अघाने नहीं।” तथा “पुलकि पसीजति प्रौढ़ तिय” जैसी योजनायें कला-सूक्ष्मता की दृष्टि से बाहवाही के योग्य हो सकती हैं। किन्तु भाव गाम्भीर्य की दृष्टि से नहीं। (ठीक इसके विपरीत रीति-मुक्तों के प्रेम-मार्ग में न बौद्धिक योजना है न इतनी कष्ट कारिणी बहानेबाजी) घनानन्द के शब्दों में—

“अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं”

रीतिमुक्तों की अपेक्षा रीतिबद्धों में यही सयानप अपनी विशेषता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में “प्रेम में ये लोग बुद्धि की कतर व्योत नहीं चाहते।”

(अपनी योजना को सक्रिय रूप देने के लिए दूती की योजना रीतिबद्ध काव्यों का आवश्यक उपादान है, क्योंकि किसी अनुभवी वृद्धा की सहायता के बिना टेढ़े-मेढ़े मार्ग में ये कविगण प्रवेश करना जानते ही नहीं थे। बिहारीलाल के भक्ति के पदों को छोड़ दें तो प्रत्येक पद लगभग सखी मे या दूती से सम्बद्ध मिलेगा।

जबकि रीतिमुक्तों में घनानन्द सीधे कहते हैं—

“कान्ह परे बहुतायत में, इकलैन की वेदन जानो कहा तुम ।”

इस पंक्ति में न कोई बनावट है न भूमिका, अपितु प्रिया प्रियतम को स्पष्ट उलाहना दे रही है (रीतिबद्ध यदि दूतीमुख से बोलते हैं तो रीतिमुक्त कवि स्वयं अपने मुख से; अतः रीतिमुक्तों की वेदना में स्वयं की अनुभूति होने के कारण गहराई है ।)

(रीतिबद्ध कवियों का प्रेम स्वयं अपना नहीं है, उनका प्रेम पुस्तकीय है) (पुस्तकों से प्राप्त तथा पुस्तकों के लिए) । परन्तु रीतिमुक्तों में अपने जीवन की अनुभूति है । ये लोग कवि होने के साथ महान् प्रेमी भी हैं । आलम शेख के प्रेमी थे, तो घनानन्द सुजान के, बोधा पन्ना के प्रेम में पागल थे । इस प्रकार एक का प्रेम पराया है तो दूसरे का अपना इसीलिए इनका कहना है—

“सहते ही बने कहते न बने मन ही मन पीर पिरैबो करे ।”

(रीतिबद्ध कवि बाह्य सौन्दर्य के उपासक हैं) उन्हें अपनी प्रेयसी के शरीर को देखने और दिखाने की चाह अधिक रहती थी । आत्मा का स्पन्दन सुनने की कम । अतः रीतिबद्ध कवियों के काव्य में खण्डिता, अन्यसंभोग दुःखिता के चित्रों की भरमार हो गई; नखच्छद और रदच्छद के वर्णन भी सहज उपलब्ध हैं, मानसिक चित्र जहाँ भी मिलते हैं, वे संयोगवश ही हैं । जबकि रीतिमुक्तों ने हृदय की ध्वनियों को जितनी तत्परता से बाह्य विशेषताओं को नहीं— “जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल कांकरी बैठि चुन्यों करे (आलम) । तथा “वा निरमोहिन रूप की रासी जऊ उरहेत न ढानति ह्वै है” (ठाकुर) । आदि चित्र कवि के हृदय की कहानी को व्यक्त कर देते हैं । मिश्र जी के शब्दों में “हृदय को खोल कर दिखाने का प्रयास अधिक है ।”

(रीतिबद्ध कवियों में ऊहा की अनिवार्य योजना रही है) और इस क्षेत्र में ये बड़ी-बड़ी दौड़ें लगाते हैं— “छाती सो छुवाय दियाबाती क्यों न बार लै” तथा हवा के हलके झोंके से ही सात हाथ आगे-पीछे हटने जैसे काल्पनिक वैभव का ही इन कवियों ने प्रदर्शन किया है । दूसरी ओर रीतिमुक्त कवियों को इस बात की आवश्यकता ही नहीं पड़ी है । यदि कहीं उन्होंने इनका प्रयोग किया भी है तो भाव-सौन्दर्य को लेकर—

सखी कारी घटा बरसाने पै

और गोरी घटा नन्दगांव पैरी ॥

इन कवियों की रीतिबद्ध कवियों से तुलना करते हुए पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र लिखते हैं कि—

“ये वासना पंकिल राजाओं के मानस का रंजन करने वाले चाटुकार नहीं थे, अपनी उमंगों के आदेश पर थिरकने वाले जीव थे। इनका काव्य बुद्धि के पूरे व्यायाम के साथ अखाड़े में नहीं उतरता।”

(रीतिबद्ध कवियों में प्रेम के क्षेत्र में तीर-खंजर खूब चले हैं, तथा चलाये गये हैं, जबकि रीतिमुक्तों में यह प्रवृत्ति कम ही दृष्टिगत होती है।) मिश्र जी के कथनानुसार “विदेशी चादर इन्होंने भी ओढ़ी पर ओढ़ी बड़ी कढकीने के साथ।” इन रीतिमुक्त कवियों में तो “लोने स्वरूप की लोनी” अधिक लगी है।

रीतिबद्ध कवियों में रीति परम्परा के अन्तर्गत नखशिख वर्णन अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है। इस वर्णन के अभाव में उनकी रीतिबद्धता अपूर्ण ही थी। जबकि रीतिमुक्तों की भावुक दृष्टि एक अंग पर जाकर ही लगी रह जाती है। सम्पूर्ण दर्शन का अवसर ही उन्हें नहीं मिल पाता, क्योंकि उनमें तन्मयता है। अतः जहाँ दृष्टि लगी, वह वहीं रह गई।

(रीतिबद्ध कवियों का एक आदर्श है “प्रेम में मर मिटना”, इसके लिए वे बड़ी-बड़ी दूर की कौड़ियाँ खोज लाते हैं। जबकि रीतिमुक्त कवि प्रेम-पीड़ा को सहने में आनन्द का अनुभव करते हैं, उसी में अपनी सफलता मानते हैं।) उनका विचार है कि यदि प्रियतम इतना ही समझ ले कि “आवत है नित मेरे लिए” तो ठाकुर उसी पर आस्था एवं विश्वास रख अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। रीतिमुक्त कवियों का एक सिद्धान्त यह भी है, कि प्राण त्याग तो कायर करते हैं, प्रेमी नहीं।

“निराश हूँ कायर त्यागत प्राणै ।”

(रीतिबद्ध कवियों का अधिकांश ध्यान संयोग पक्ष पर केन्द्रित रहा है। अतः वियोग उन्हें कम ही भोगना पड़ा है। इसके साथ ही इन्होंने अपनी नायिकाओं को वियोग-रूपी उपहार देने में कभी संकोच नहीं किया है। जबकि रीतिमुक्तों ने वियोग को ही अपने गले का हार बनाया है। भले ही यह फारसी प्रभाव लिये हुए ही क्यों न हो, किन्तु उन्होंने उसका निर्वाह भी ईमानदारी से किया है। इन रीतिमुक्तों को संयोग में भी वियोग की संभावना बनी रहती है—

“मिलबेहु में मारै डारै खरक विछोह की ।”

(रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्तों ने प्रकृति को अपने काव्य में स्थान दिया है, किन्तु दोनों की मान्यताओं में मौलिक अन्तर है। रीतिबद्ध कवियों के मन में प्रकृति उद्दीपक मात्र थी, अतः इन कवियों ने प्रकृति में हार्दिकता के दर्शन कभी नहीं किये। ठीक इसके विपरीत रीतिमुक्तों को वहाँ हंसता-मुस्कराता हृदय दृष्टिगत हुआ। परिणामस्वरूप प्रकृति उनके लिए फोटोग्राफर का पट मात्र न रहकर स्वतन्त्र, मस्त और वियोगी बन गई।) घनानन्द को “विरही को हरे मेघ आंसुनि झरौ करै” की

अनुभूति इसी कारण हुई। द्विजदेव के ऋतुवर्णनों में उनके हृदय का उल्लास उमड़ता दिखलाई देता है। वे केवल रस्म अदायगी करते नहीं जान पड़ते हैं।

(रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त दोनों ही प्रकार के कवियों ने त्यौहारों का वर्णन किया है; किन्तु उनके वर्ण्य त्यौहारों को देखने पर उनके हृदय की भावनाओं की स्पष्ट जानकारी होती है। रीतिबद्धों ने केवल होली को त्यौहार के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि इसमें उन्हें उछल-कूद के लिए अवसर था। उनकी भावना के स्रोत इसी क्षेत्र में अच्छी तरह से व्यक्त हो सकते थे। इसमें नायक-नायिका के स्वेद, कम्प आदि के वर्णन हो सकते थे) अथवा “नैना नचाय कही मुसकाय” का अवसर हाथ लग सकता था। रीतिमुक्त कवियों ने अन्य त्यौहारों को अपनाया। शुक्ल जी के अनुसार “ठाकुर प्रधानतः प्रेम निरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकांग-दर्शी थी।”^१

(अभिव्यंजना शिल्प की दृष्टि से भी इन धाराओं के कवियों में मौलिक अन्तर है। अधिकांश रीतिबद्ध कवियों ने पदों का अंग-भंग किया है किन्तु रीतिमुक्त कवियों ने भाषा का सरल और सहज रूप ही अपनाया है। इन कवियों की भाषा में “न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है न कल्पना की झूठी उड़ान, और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष।”^२ (भावानुभूति की गम्भीरता के कारण भाषा में स्वतः सशक्तता के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त रीतिबद्धों में एक विशिष्ट प्रवृत्ति-अनेक भाषाओं से प्रभावित होने की है, वहाँ रीतिमुक्त इस प्रकार के प्रभाव अथवा आग्रह से सर्वथा मुक्त हैं। तीसरी बात यह भी है कि रीति मुक्तों को अभिव्यंजना में लक्षणा और व्यंजना का सफल प्रयोग देखने को मिलता है। फलस्वरूप उनकी भाषा में एक आकर्षण एवं वैशिष्ट्य है।)

(रीतिबद्ध कवि प्रायः अपने सीमित क्षेत्र में ही रहे हैं, उन्होंने गद्य की ओर देखा भी नहीं है, जबकि रीतिमुक्त कवियों ने गद्य क्षेत्र में भी पदार्पण किया है। उदाहरण के लिए आलम का ‘साधवानल कामकन्दला’ तथा बोधा का ‘विरह वारीश’ लिये जा सकते हैं। ये उदाहरण रीतिमुक्तों की प्रतिभा एवं उनके व्यापक ज्ञान परिवेश को सूचित करते हैं।)

(रीतिबद्ध कवियों ने बंधी-बंधाई लीक पर चलने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मानी है) उनका काव्य उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करता है अथवा नहीं? यह एक प्रश्न बना ही रहता है। क्योंकि उनका जीवन और काव्य द्विविधामूलक स्थिति को जन्म देकर विषम स्थिति को उत्पन्न करता है। किन्तु रीतिमुक्त कवियों में यह असंगति दिखलाई नहीं देती है। रीतिमुक्त कवियों का व्यक्तित्व उनके काव्य

में 'सर्वत्र स्पष्ट हुआ है। घनानन्द विरोध मूलक चमत्कार के द्वारा, ठाकुर लोकोक्ति और मुहावरों के द्वारा, आलम प्रेम की तन्मयता के द्वारा व्यक्तित्व का स्फुरण करते रहे हैं।)



६



बिहारी-रीतिबद्ध या रीतिमुक्त

भक्तिकाल का पर्यवसान होते ही हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में शृंगार की धारा उद्यम वेग से प्रवाहित हो उठी। शृंगार की अभिव्यक्ति के लिये उस युग के जिन कवियों ने रीति को अर्थात् रस नायक-नायिका, अलंकार, पिंगल आदि के भेदोपभेदों को आधार बनाया, वे रीतिबद्ध^१ कहलाये। इसके अतिरिक्त जिन कवियों ने रीति के बन्धन का अतिक्रमण कर काव्य-रचना की, वे रीतिमुक्त के नाम से अभिहित किये गये।

रीतियुग के प्रतिनिधि कवि बिहारी के सम्बन्ध में यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है कि वे रीतिबद्ध थे अथवा रीतिमुक्त। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है “दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसलिये हमने उन्हें रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख उस काल के प्रतिनिधि कवियों में रखा है।”^२ इस प्रकार शुक्ल जी बिहारी को रीतिबद्ध कवि मानते हैं। किन्तु डा० हजारि प्रसाद द्विवेदी उनके मत से सहमत नहीं हैं और वे बिहारी की रीतिबद्धता पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुये लिखते हैं कि “साधारणतः विश्वास किया जाता है कि इस कवि ने अपनी सतसई की रचना रीतिकाव्य की दृष्टि से ही की थी, क्योंकि उनके दोहों को देखकर यही अनुमान होता है कि किसी न किसी नायिका का लक्षण उनके मन में अवश्य उपस्थित था। किन्तु उनके प्रत्येक दोहों में किसी न किसी को खोज लेना यह सिद्ध नहीं करता कि वे रीतिग्रन्थ लिख रहे थे। अमरक शतक

- १ “इन रीतिग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे, उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदय ग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुये।”

(रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६-२७)

- २ रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २५१

के श्लोक नायिका-भेद की चर्चा करने वालों के बहुत प्रिय रहे हैं; परन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जाता कि अमरक शतक नायिका भेद का ग्रन्थ है। हाल की प्राकृत भाषा में लिखी हुई आर्या सप्तशती के प्रत्येक पद्य में किसी न किसी नायक-नायिका का उदाहरण खोजा जा सकता है और खोजा गया है परन्तु इन पुस्तकों को कोई रीति-ग्रन्थ नहीं कहता।^१

इस प्रकार शुक्ल जी और द्विवेदी के तर्कों के आधार पर बिहारी को रीतिबद्ध एवं रीतिमुक्त धारा के अन्तर्गत स्थान प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व हमें दोनों दृष्टियों से बिहारी का अध्ययन करना आवश्यक है।

रीतिबद्ध कविता की सामान्य विशेषतायें निम्न है—

(१) रीतिकालीन कवियों ने नायक-नायिका भेद के आधार पर काव्य-रचना की है।

(२) रीतिबद्ध रचना प्रायः मुक्तक रही है, क्योंकि इनके रचनाकर दरबारी थे और दरबार में सुनाई जाने वाली रचनाएँ कथाबद्ध-प्रबन्ध नहीं हो सकती थीं।

(३) राजसभायें सुनाई जाने वाली कविता कलापक्ष प्रबल और चमत्कार प्रधान होने पर ही सभासदों का सफल अनुरंजन कर सकती थी।

(४) दरबारी काव्य होने के कारण रीतिबद्ध कवि आश्रयदातओं की रुचि के अनुसार लिखते थे। उस युग की दरबारी मनोवृत्ति रास-रंग के अनुकूल अधिक थी, अतः कविता में शृंगार का प्राधान्य रहा।

(५) रीतिबद्ध कविता में नाद-सौन्दर्य का विशेष आग्रह था, जो कि अपेक्षित भी था क्योंकि उसमें अपेक्षाकृत आकर्षण का सामर्थ्य अधिक था।

(६) षट्श्रुतु वर्णन भी इन कवियों का प्रिय विषय रहा है।

इस काल में एक दूसरी रीतिमुक्त धारा भी काव्य सृजन में व्यस्त थी, ये रीतिमुक्त कवि शृंगार या प्रेम के स्वच्छन्द गायक थे, कलापक्ष के परिष्कार और चमत्कार का आग्रह इन कवियों में न था। इसकी अपेक्षा इन कवियों में हृदय का उद्गम वेग ही कविता का रूप धारण कर व्यक्त होता था। घनानन्द का तो कहना ही था—

“लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।”

रीतिमुक्त कवियों का अन्तर भावों के अपरिमित कोष से भरपूर था, उसे व्यक्त करने के लिये इन कवियों ने व्यंग्यमूलक लाक्षणिक पद्धति को अधिक अपनाया

है। अन्तर्वृत्ति प्रधान होने के कारण इन कवियों का आकर्षण शृंगार के वियोगपक्ष पर अधिक था। यह कविता प्रेम की प्रकृत भूमि पर आरूढ़ होने के कारण वासना के गर्त में नहीं गिरी है।

[बिहारी को रीतिबद्ध सिद्ध करने के मूलभूत तत्व दो हैं—नख-शिख वर्णन और नायक-नायिका भेद। बिहारी सतसई में रीतिबद्ध धारा की ये दोनों ही विशेषताएँ मिल जाती हैं और बिहारी ने इनके “सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों का निरूपण किया है, सभी अंगों का ऐसा निरूपण अनायास ही नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुत से ऐसे दोहे भी लिखे हैं, जिनमें न भावना का स्फुरण है, और न काव्य का कोई चमत्कार ही है। उनकी रचना का उद्देश्य एकमात्र इन अंगों की पूर्ति करने के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। यह नहीं, उन्होंने कई दोहों में एक ही विषय की पुनरावृत्ति रीति के सूक्ष्म भेदों की पूर्ति के निमित्त की है।”^१ (नायिकाओं के इतने रूप तथा उनकी अवस्थाओं के विभिन्न शास्त्रीय भेद रीतिमत्ता में प्रयत्न पूर्वक अनुसंधान करने पर भी नहीं मिलेंगे) विहाँ तो “सुजान या सुभान जैसी किसी एक ही प्रेयसी की झलक सर्वत्र दिखाई पड़ती है, वह बिहारी की नायिका की भाँति एक क्षण में बाला और दूसरे क्षण में प्रौढ़ा, किसी समय स्वकीया और किसी समय परकीया अथवा कभी लज्जा की साक्षात मूर्ति और कभी निर्लज्ज कुलटा का रूप धारण नहीं करती। इसी प्रकार नायक-नायिका भेद के आधार पर बिहारी रीतिबद्ध ठहरते हैं।

(यदि आलोचनात्मक दृष्टि से सतसई का अध्ययन किया जाये, तो ज्ञात होगा कि बिहारी में रीतिबद्ध धारा की ये विशेषतायें अपने पूर्ण रूप में नहीं हैं। नखशिख वर्णन की कसौटी पर सतसई खरी नहीं है।) लाला भगवानदीन ने इसके दोहों का नखशिख वर्णन की दृष्टि से अनुक्रम बाँधा है, पर उसकी आलोचना करते हुये डा० बच्चन सिंह ने लिखा है कि “क्या इसे नखाशिख वर्णन माना जा सकता है। इसमें कुछ अङ्गों के वर्णन में व्यतिक्रम हो गया है और कुछ अङ्ग छूट गये हैं। व्यतिक्रम के सम्बन्ध में रीतिप्रेमी सहृदय कह सकते हैं कि इसके लिए बिहारी नहीं लाला जी दोषी हो सकते हैं। लेकिन इस वर्णन में दाँत, ग्रीवा और हाथ जैसे प्रमुख अङ्ग छूट गये हैं। इसके लिये कौन दोषी ठहरेगा? इससे स्पष्ट है कि नखशिख वर्णन की दृष्टि में रखकर बिहारी ने नखशिख वर्णन नहीं किया है।”^३

नायक-नायिका भेद की दृष्टि से बिहारी सतसई की परीक्षा करने पर भी

१ हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी पृ० ३५७

२ हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी पृ० ३५८

३ बिहारी का नया मूल्यांकन पृ० १४

सतसई निर्दोषी नहीं है। पहली बात तो यह है कि शृंगार को लेकर जो नायक-नायिका भेद का विषय विभाजन किया है, वह ऐसे सामान्य और सर्वमान्य गुणों को सामने रखकर किया गया है कि उसके अन्तर्गत घनानन्द ठाकुर, और यहाँ तक कि विद्यापति, सूर तथा उर्दू और फारसी की रचनायें भी सम्मिलित की जा सकती हैं। अतः यदि बिहारी के दोहे उन वर्णों के भीतर रखे गये हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे रीतिबद्ध कवियों से पृथक् किये ही नहीं जा सकते। अब विचारणीय यह है कि बिहारी ने यदि रीति के आधार को बावन तोला-पाव-रत्ती ग्रहण करके अपने दोहों का निर्माण किया होता तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, कि उनकी नायिका को एक संग्रह कर्ता तो खण्डिता बताये और दूसरे धीराधीरा। यह बात सिद्ध कर देती है कि वे रीति की लकीर के फकीर नहीं थे। उदाहरण के लिए “बिहारी और ‘उनका साहित्य’” के लेखक द्वय निम्नाङ्कित दोहे में मध्या नायिका मानते हैं।

दुरत न कुच बिच कंचुकी, चुपरी सारी सेत ।

कवि आंकनु के अर्थ लौं प्रगट दिखाई देत ॥

दूसरी ओर डा० रामसागर त्रिपाठी इस दोहे में मुग्धा नायिका की यौवन के पूर्ण विकास की अवस्था मानते हैं।^२

काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर आचार्यों ने मध्या की स्थिति मुग्धा और प्रौढ़ा के बीच मानी है। इसमें लज्जा की कुछ कमी और काम की कुछ अधिकता होने लगती है। क्या इस दोहे के इसी प्रकार की व्यंजना होती है? इस दृष्टि से डा० त्रिपाठी का विचार कुछ उचित है किन्तु लाला भगवानदीन इस दोहे को कंचुकी वर्णन के अन्तर्गत स्थान देते हैं और रत्नाकर जीने अंकुरित यौवना के अन्तर्गत इस दोहे को स्थान दिया है। अतः स्पष्ट है कि इस तरह सतसई में नायिका-भेद की खोज कर लेना न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। यदि बिहारी को ऐसा करना ही होता, तो वे दोहे के साथ-साथ लक्षण भी जोड़ सकते थे, किन्तु बिहारी को यह अभीष्ट नहीं था।

रीतिबद्ध कवियों से बिहारी कला पक्ष की दृष्टि से भी यत्र-तत्र भिन्न हैं। उन्होंने रीतिबद्ध कवियों की भांति केवल नाद सौन्दर्य और काव्य की बाह्य साज-सज्जा को ही महत्वपूर्ण नहीं माना, अपितु धूर्तमणीयता तथा भावरमणीयता को ही कविता का विशेष गुण स्वीकार किया है। अतः हम उन्हें रीति के बन्धनों से बंधा हुआ नहीं कह सकते हैं।

१ बिहारी और उनका साहित्य पृ० ८५

२ मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी पृ० ३२०-२१

किन्तु बिहारी को रीतिमुक्तों के बीच में भी नहीं रखा जा सकता। क्योंकि वे रीतिमुक्तों के समान प्रेम के उन्मुक्त गायक और घनानन्द के समान 'लोम हैं लामि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।' कहकर हृदय के वेग को हो कविता का रूप धारण कराने वाले बिहारी न थे। यदि सच कहा जाय तो वे मध्यमार्गी थे। रीति से बंधकर भी और उससे स्वच्छन्द भी (("बिहारी सतसई में रीतिकथन नहीं है, किन्तु कवि की दृष्टि रीतिलक्षणों की ओर बराबर रही है। रीतिकथन न करते हुये भी बिहारी के दोहे रीति की शृंखला से मुक्त नहीं हैं, वे रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी सतसई में रीति सम्बन्धी दोहे भी हैं। जहाँ-तहाँ नीतिकथन तथा भक्ति सम्बन्धी दोहे भी हैं। बीच-बीच में नीति और भक्ति के दोहों की योजना-परम्परा का निर्वाह भी है। फिर भी वे रीतिबद्ध कवि नहीं कहे जा सकते। रस, अलंकार, नायिका आदि का लक्षण निरूपण उन्होंने नहीं किया है। वे प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की सतसई परम्परा में आते हैं। इतनी बात अवश्य है कि रीति से उनकी कविता बोझिल है।"१) रीति में बंधे होने पर भी इन स्वच्छन्द कवियों को विश्वनाथ प्रसाद मिश्र मध्यम श्रेणी का मानते हुये रीतिबद्ध नाम से अभिहित करते हैं उनके अनुसार इस श्रेणी में आने वाले कवियों की विशेषता यह है कि वे न तो रीतिविरुद्ध हैं और न रीति में ऐसे आबद्ध ही हैं कि वे तिलमात्र हट भी न सकें। ये कवि लक्षण ग्रन्थ लिखने वाले कवियों की भाँति शास्त्र कथित परम्परा के पूर्ण अनुयायी भी न थे, शास्त्र निर्दिष्ट बातों को वे केवल मार्ग-निर्देश के लिये ही समझते थे, और उनके सहारे नई-नई कल्पनाएँ और उद्भावनाएँ करने को अनुचित नहीं मानते थे (बिहारी ऐसे ही रीतिसिद्ध कवि थे और उनमें उद्भावना की अनुभूति शक्ति थी। उन्होंने अन्य रीतिबद्ध कवियों की भाँति नाद सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिए सबैयों में अपनी उक्तियाँ नहीं ढाँकी और न नाद सौन्दर्य के लिये वहाँ पर भावों का हनन किया।

बिहारी ने कहीं भी रीति के अन्धानुकरण में अपने व्यक्तित्व का लोप नहीं किया है। वे रीति के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं पर इस व्यतिरेक के साथ कि उन्होंने रीति के शास्त्रीय बंधन के लिये ही अपनी उक्तियाँ नहीं बिगाड़ी हैं। वस्तुतः मिश्र जी के शब्दों में "स्वकीय-विशेषता सम्पन्न रीति सिद्ध कवि और बिहारी इनके सिरमौर थे।"२ किन्तु डा० गणपति चन्द्र अपनी नवीनता सिद्ध करने के लिए रीति मिश्रित या रीति समन्वित कहना चाहते हैं—"बिहारी के काव्य को रीतिसिद्ध की अपेक्षा रीति मिश्रित या रीति समन्वित कहना अधिक उचित है।"३ यह केवल

१ डा० बच्चनसिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना पृ० ६१

२ बिहारी की वाग्विभूमि पृ०

३ हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी, पृ० ३५७

मिश्र जी के कथन का शब्दान्तर मात्र है। (वास्तव में बिहारी रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की अनेक विशेषताओं से सम्पन्न एक कलाकार हैं, यही उनकी अपनी विशेषता है।) उन्हें डा० मिश्र के अनुसार 'रीतिसिद्ध' कहना भी अनुपयुक्त न होगा।

७

सतसई काव्य-परम्परा

भारतीय साहित्य में मुक्तक काव्य की परम्परा पुरातन है; ग्रियर्सन का कहना है कि मुक्तक काव्य मानव-प्रकृति के सत्य के अधिक निकट हैं। वे इसके कारण का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि चिरकाल से इस मुक्तक साहित्य का भारतीय ग्राम, भारतीय संस्कृति और भारतीय जन-भाषा से सम्पर्क रहा है। नगर के पंडितों के बीच साहित्य के शास्त्रीय रूपों की ही अधिक प्रतिष्ठा हुई है—

One reason of the excellence of these little poems is their almost invariable truth of nature, and the cause of this is that from the first they have been rooted in village life and language and not in the Pandit—fostering circles of the town.¹

सम्भवतः यही कारण है कि प्राचीन मुक्तक साहित्य अधिकतर जनभाषा प्राकृत में ही उपलब्ध हुआ है।

मुक्तक-काव्य की परम्परा वेदों से लेकर आज तक अनवरत रूप से प्रवाहमान है। इस परम्परा में शतक, शतशती, सतसई, हजारा आदि के नाम से संग्रह होते आये हैं। किन्तु लोक प्रियता शतक और सतसई को ही प्राप्त हुई है। संस्कृत साहित्य में शतक परम्परा विशेष रूप से लोकप्रिय रही है, जैसे नीतिशतक, शृंगार शतक, वैराग्यशतक, अमरुक शतक। किन्तु हिन्दी साहित्य में शतक परम्परा को विशेष आदर नहीं मिला, फिर भी सूर शतक, उद्भव शतक, गांधी शतक, जैसी चनाओं का निर्माण हुआ है। हिन्दी में लोकप्रियता की दृष्टि से सतसई परम्परा विशेष महत्वपूर्ण है।

'सतसई' शब्द का मूलरूप "सप्तसती" है, जिसका सामान्य अर्थ है 'सातसौ'। किन्तु प्रायः देखा यह जाता है कि सप्तशती में सप्त सौ से दस सौ तक पद अधिक होते हैं। उदाहरण के लिए बिहारी सतसई को ही लिया जा सकता है। बिहारी सतसई में सात सौ उन्नीस दोहे हैं। सात सौ की संख्या के प्रति इस आग्रह का निश्चित कारण बतलाना संभव नहीं है। सम्भवतः सप्त तथा शती का उच्चारण अनुप्रासात्मक तथा श्रुति मधुर होने के कारण अपनाया गया हो,

अथवा मंत्र-शास्त्र में सात की संख्या महत्वपूर्ण होने के कारण ही कदाचित् आकर्षण का अनायास कारण रहा हो, कुछ भी सही यह निश्चित है कि सतसई में सातसौ से कुछ अधिक दोहे होते हैं और यह साहित्य विशेष लोकप्रिय भी रहा है। मुक्तकों के संग्रहों में सात सौ की संख्या के लिए जितना आग्रह दिखाई देता है, उतना और किसी संख्या के लिए नहीं। अमरुक ने शतक लिखा और रसनिधि ने हजारों लिखकर मुक्तक को हजारी का मनसब दिया सही, परन्तु विशेषतः लोगों ने यही प्रयत्न किया कि उनके संग्रहों में लगभग सात सौ पद्य रहें। सात सौ से कुछ अधिक पद्य रहने पर भी उनके संग्रहों के नाम सप्तशती या सतसई ही रखे गए।^१

५) सतसईयों का निर्माण, सतसई निर्माण के रूप में ही नहीं होता है, अपितु संग्रह कर्त्ता अथवा स्वयं कवि समय-समय पर निर्मित विभिन्न दोहों को एक स्थान पर संग्रहीत कर देते हैं : और उसका नाम सतसई रख दिया जाता है।^२ जैसा कि तुलसी सतसई में हुआ है। तुलसी सतसई में रामचरित मानस के दोहे भी संग्रहीत हैं। अतः सतसईयों के रचना क्रम के सम्बन्ध में हमारा यही मत है कि दोहे बाद में क्रमबद्ध किये जाते रहे हैं।

सतसई की विषय वस्तु व्यापक मानव जीवन की सीमाओं का स्पर्श करती है। सतसई के प्रतिपाद्य विषय पर विचार करते हुए हमें कुछ गहराई में जाकर देखना होगा, कि प्राचीन भारत के मनीषियों का जीवन दर्शन क्या था ? वे जीवन के सम्बन्ध में क्या विचार रखते थे ? भारतीय प्रतिभा स्वभाव से गम्भीर रही है और भेद में अभेद को, अनेकता में एकता को देखने का सदा उसका प्रयास रहा है। फिर यह सतसई साहित्य किस परम्परा से उद्भूत है ?

हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय आर्यों ने प्रायः दो प्रकार के जानमार्गी और भक्ति प्रवण साहित्य का सृजन किया है, जो कि उनके जीवन-दर्शन एवं प्रकृति के प्रतीक माने जा सकते हैं। “पूर्वी आर्य अधिक भाव प्रवण, आध्यात्मिकतावादी और रूढ़ि मुक्त थे, और पश्चिमी या मध्य देशीय आर्य अपेक्षा कृत अधिक रूढ़ि-मुक्त, परम्परा के पक्षपाती, शास्त्र-प्रवण और स्वर्गवादी थे। पूर्वी आर्यों में ही उपनिषदों की ज्ञान चर्चा, बौद्ध और जैन आचार्यों का रूढ़ि से विद्रोह, तन्त्र और वामाचार की स्थापना, सहज मत और योगमार्ग का प्रचार और आध्यात्मिकता स्वरसित भाव प्रवण गीतिकाव्य का विकास हुआ।”^३ इस प्रकार इन आर्यों का दो प्रकार का साहित्य निर्मित हुआ एक आध्यात्मिकता प्रवण और दूसरा रूढ़ि से युक्त कर्मकाण्ड परक। इस नीरस साहित्य के प्रति एक विद्रोह की भावना तथा परम्परा से विद्रोह अदि ने सरस गीतिकाव्य के सृजन को प्रेरणा प्रदान की;

१ डा० श्यामसुन्दर दास : सतसई सप्तक : प्र० सं० पृ० ४

२ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० सं० १११

परिणामस्वरूप एक तीसरे प्रकार के साहित्य का अभ्युदय हुआ। जिसमें आध्यात्मवाद, मोक्ष और कर्मकाण्ड को तिराजाली देकर लौकिक सरस कवित्व को प्रश्रय दिया गया। जिसे एक आलोचक ने 'सेक्यूलर' कविता कहा है। इस साहित्य में तथा पूर्वोक्त आध्यात्मिक परक कविता में मौलिक अन्तर है। "ये पहली रचनाओं की भांति धारावाहिक रूप में नहीं लिखी जाती थीं और किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष के चरित्र को अवलम्बन करके भी नहीं गाई जाती थीं, बल्कि फुटकल श्लोकों के रूप में, छोटे-छोटे पद्यों में ही अपने आप में सम्पूर्ण अन्य निरपेक्ष भाव से लिखी जाती थीं। आरम्भ में ऐसी रचनाएँ प्राकृत भाषा में लिखी गईं और बाद में चक्रकर संस्कृत में भी लिखी जाने लगीं।"^१

(इस मुक्तक काव्य में जीवन से सम्बद्ध व्यापक विषयों को ग्रहण किया गया, सामान्य जीवन की अनेक बातों को स्थान दिया गया, इस प्रकार जीवन की गरिमा को गौरवान्वित करने वाली अनेक बातें इस साहित्य में लिखी जाने लगीं। लेकिन अभी तक इस मुक्तक काव्य में भक्ति ही प्रधान विषय थी; शृंगार अभी तक साहित्य में अपना स्थान नहीं बना पाया था। इस भक्ति काव्य में कुछ स्फुट पद अथवा कई छन्दों की एक कविता होती थी। और इन सभी का संग्रहीत नाम शतक या सप्तशती ही कहलाता था। "स्तोत्र और भक्ति के ग्रंथों के नाम शतक, सप्तशती आदि ही होते थे, पर जब लोग शृंगार रचना करने लगे तो शुद्ध काव्य में भी शतक और सप्तशती का संग्रह हुआ, तब से शृंगार के वैसे ही रस पूर्ण मुक्तकों की रचना करने का और लोगों को भी हौसला होने लगा।"^२ (सतसई के दोहों में कविगण मनोरम विविध विषयों की जाँकी प्रदर्शित करते हैं। शृंगार, नीति, उपदेश आदि इनके प्रधान विषय रहे हैं किन्तु सतसईयों की रचना एक विषय को लेकर भी हुई है और हो सकती है। वियोगीहरि ने 'वीर रस' को लेकर उसकी रचना की है।) समष्टि रूप में सतसई में इस प्रकार के दोहों का संग्रह किया जाता है जो अपने वाग्वैदग्ध्य, रोचकता, सार्वजनीनता एवं संवेदनीयता के कारण प्रभावान्विति में अपूर्व होते हैं। इन्हें पाठक पढ़कर भावविगलित हो उठता है। इसीलिए प्रसिद्ध भी है—

सतसईया के दोहरा ज्यों नाविक के तीर ।

देखन में छोटे लगे धाव करे गम्भीर ॥

तथा ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि ।

त्यों त्यों खरी निकसे री निकाई ॥

१ डा. द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १११-१२,

२ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : बिहारी की वाग्विभूति, पृ० १५

तथा “जीभ निबोरी क्यों चखे बौरि चाखि अंगूर”

की कहावत भी इसी सतसई साहित्य पर ही चरितार्थ होती है।

⑥ (सतसई परम्परा का मूल) हमें प्राकृत एवं संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। संस्कृत साहित्य में सर्व प्रथम मार्कण्डेय पुराण में ‘दुर्गा सप्त शती’ के दर्शन होते हैं। इस सतसई में सात सौ श्लोक हैं, किन्तु यह विशुद्ध धार्मिक रचना है (द्वितीय सतसई ‘गाथा सप्त शती’ है। यह रचना हाल (सातवाहन)) द्वारा प्राकृत भाषा में लिखी गई है। यह रचना इतनी लोकप्रिय हुई कि संस्कृत के अन्य कवियों ने इस परम्परा का अनुकरण किया। उदाहरण स्वरूप गोवर्धनाचार्य की ‘आर्या सप्त शती’ का नाम लिया जा सकता है। इस रचना का हिन्दी की सतसइयों पर भी प्रभाव देखा जा सकता है। मूलतः गाथा सप्तशती एवं आर्या सप्तशती ने हिन्दी साहित्य में सतसई रचना को विषय, छन्द एवं भाव की दृष्टि से विशेष प्रभावित किया है। (इन रचनाओं का विषय शृंगार तथा व्यापक मानव जीवन रहा है) हाल की ‘सतसई’ ही वह रचना है, जिसने सर्वप्रथम आध्यात्मिक पारलौकिक एवं दार्शनिक गम्भीर विचारों को नमस्कार कर मानव जीवन के लौकिक सम्बन्धों, सांसारिक, आकर्षण, तथा जीवन के सरस और मर्मस्पर्शी चित्रों को काव्य में स्थान दिया है।” जीवन की छोटी-मोटी घटनाओं के साथ एक ऐसा निकट सम्बन्ध पाया जाता है, जो इसके पूर्व-वर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत कम मिलता है। प्रेम और करुणा के भाव, प्रेमिका की रसमयी क्रीड़ा में और उनका घात-प्रतिघात इस ग्रन्थ में अतिशय जीवित रस में प्रस्फुटित हुआ है। अहीर और अहिरनों की प्रेम-गाथायें, ग्राम-वधूटियों की शृंगार चेष्टायें, चक्की पीसती हुई या पौधों को सींचती हुई सुन्दरियों के मर्म-स्पर्शी चित्र, विभिन्न ऋतुओं का भावोत्तेजन आदि बातें इतनी जीवित, इतनी सरस और हृदय स्पर्शी हैं कि पाठक बरबस इस सरस काव्य की ओर जाकृष्ट होता है।”^१

हिन्दी में बिहारी तथा कुछ अन्य कवियों ने अपनी सतसई रचना में गाथा सप्तशती एवं आर्या सप्तशती को विषय और छन्द संख्या के सम्बन्ध में आदर्श माना है जबकि तुलसी आदि ने केवल छन्द संख्या को ही इन सतसइयों से ग्रहण किया है।)

७००

संस्कृत की इस सप्तशती परम्परा से पूर्वशतक परम्परा विशेष लोकप्रिय रही है। भर्त्रिहरि के नीति-शतक, शृंगार शतक, तथा वैयास शतक तथा अमरुक का अमरुशतक विशेष लोकप्रिय हो चुके थे। अमरुक का शतक शृंगार रस की रचना है।



उपर्युक्त रचनाओं ने हिन्दी सतसई परम्परा को विशेष रूप से प्रभावित किया है। इनके प्रभाव स्वरूप (हिन्दी में दो प्रकार की सतसइयों की रचना हुई—एक शृंगारिकता परक तथा दूसरी सूक्ति अथवा भक्ति परक) “दोनों की ‘सतसइयों’ का उद्देश्य, तीव्रतम अनुभूत ज्ञान को सहज संवेदनीय बनाना होने के कारण, वे अपनी अभिव्यंजना शैली में बहुत कुछ समान रहीं और दोनों में ही उक्ति-वैचित्र्य को प्रमुख स्थान मिला है। शृंगार-परक रचना हो अथवा नीति-सम्बन्धी, दोनों में ही कवि प्रयत्न करता है कि अकेले पद्य में विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस वह लाकर भर दे कि उसके स्वाद से पाठक तृप्त हो जाय। सहृदयता की तृप्ति के लिये उसे किसी प्रकार अगली-पिछली कथा का सहारा न ढूँढ़ना पड़े। जिससे प्रभाव उत्पन्न करने के लिये मुक्तककार को कई ऐसे हथकण्डों की आवश्यकता पड़ती है, जो उसको इस महत् कार्य में सफलता दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं।”^१ इस साहित्य में वक्रता का विशेष स्थान रहता है। “सबसे पहले उसके कथन में कुछ वक्रता या बांकपन होना चाहिये, उसे घुमाव-फिराव से बात कहनी चाहिये बिलकुल सीधे ढंग से कहने से बात का महत्व बहुत कुछ घट जाता है। सिंह-द्वार या सदर फाटक से आक्रमण करने वालों को दृढ़ अवरोध का सामना करना पड़ता है। इसीलिये किले में प्रवेश करने के लिये आक्रमणकारी ऐसे किसी किनारे के छोटे-मोटे दरवाजे की टोह में रहते हैं जिसका कोट के निवासियों को उतना ख्याल न हो। दिल में प्रवेश करने के लिये भी बात को ऐसे ही मार्ग ढूँढ़ने चाहिये। विदग्धवाणी को ऐसे सहज मार्ग सहज ही मिल जाते हैं।”^२

हिन्दी की सतसइयों में प्राचीनतम सतसई तुलसी एवं वृन्द की सतसई हैं, इनमें संस्कृत की सप्तशतियों के प्रधान वर्ण्य विषय शृंगार की अपेक्षा नीति एवं भक्ति का प्राधान्य है, अतः आलोचकों ने इन सतसइयों को ‘सूक्ति सतसई’ कहना उचित समझा है। “इन सतसइयों को सूक्ति-सतसई कहना अधिक तर्क संगत जान पड़ता है; क्योंकि इन रचनाओं का प्रधान उद्देश्य उपदेश है, जिनके प्रणयन-स्रोत महाभारत में आये विदुर अथवा भोष्मपितामह द्वारा दिये गये नीति के आदर्श उपदेश ही हैं। इनमें आये हुए भक्ति सम्बन्धी कुछ मुक्तकों अथवा दोहों को छोड़कर जिनकी गणना शास्त्र-रस में की जा सकती है, अधिकांश पद्य सूक्तिमात्र ही हैं।”^३ अतः सम्पूर्ण सतसई-साहित्य को सूक्ति सतसई तथा शृंगार सतसई नामक दो वर्गों

१ डा० त्रिभुवनसिंहः, महाकवि मतिराम पृ० २३१-३२

२ डा० श्याम सुन्दर दासः, सतसई सप्तक पृ० ७

३ महाकवि मतिराम, पृ० २३३

में वर्णित किया जा सकता है।

सूक्ति सतसई—

सूक्ति का अर्थ है—अच्छा कथन } अच्छे कथन से हमारा अभिप्राय जीवन के सम्बन्ध में शिक्षा अथवा उपदेश से है। इन सतसईयों में मानव-जीवन से सम्बद्ध शायद सार्यों का उद्घाटन करते हुये, जीवन संग्राम के सम्बन्ध में विविध उपदेश दिये जाते हैं। दैनिक जीवन में व्यवहारोपयोगी बातों को सूक्तिकार अनुभव के आधार पर मार्मिक तथा हृदय-ग्राही रूप में कहकर पाठक और श्रोता को प्रभावित करता है। यह प्रभाव बड़ा ही तीव्र तथा मार्मिक होता है जो कि अन्तर्मन में जाकर बैठ जाता है। सूक्तिकार इस मार्मिकता का आधान तभी कर सकता है, जब उसके कथन में कुछ वक्रता अथवा बांकपन हो, जो पाठक के मन में प्राणों का संचार कर सके; यह वक्रता, उक्ति-वैचित्र्य तथा जीवन का अनुभव इस काव्य का प्राण होता है।

(सूक्तिसतसईयों के अन्तर्गत तुलसी-सतसई, रहीम-सतसई, तथा वृन्द-सतसई की गणना होती है) रहीम-सतसई खण्डित रूप में ही प्राप्त हो सकी है। पर प्राप्त छन्दों के अनुशीलन से इतना विश्वास हो जाता है कि यह सतसई जीवन की मार्मिक अनुभूतियों के आधार पर प्रस्तुत सूक्तियों का एक संग्रह मात्र रही होगी। 'तुलसी सतसई' में भक्ति एवं नीति विषयक दोनों का संकलन किया गया है। इसमें कूट रचनाओं का आधिक्य है। इस सतसई में सात सर्ग हैं, इनमें क्रमशः भक्ति, उपासना, पराभक्ति, रामभजन, आत्मबोध, कर्म सिद्धान्त, ज्ञान और राजनीति विषयक पद हैं। तुलसी-सतसई में यज्ञ-स्तन्य सुन्दर तथा मार्मिक सूक्तियाँ हैं। वृन्द सतसई भी सूक्ति सतसई है। वृन्द 'सच्ची कहने वाले कविराज' की उपाधि से अलंकृत थे। वृन्द की सूक्तियाँ जीवन के अनुभव की गम्भीरता लिये हुये हैं। नीति-विषयक संस्कृत-प्राकृत के श्लोकों की छाया वृन्द-सतसई पर अधिक है। वृन्द सूक्तिकारों में शिरोमणि हैं। उनकी अक्षयकीर्ति की आधार उनकी सूक्तियाँ हैं। सफल एवं मार्मिक सूक्ति कहना वृन्द का एकाधिकार था। "अपने सरस एवं सरल भावों तथा अनोखे दृष्टान्तों के कारण ही इस रचना को जितनी ख्याति मिल सकी, उतनी ख्याति गोस्वामी जी को भी नहीं प्राप्त हो सकी।" ^१ शुक्ल जी इन सूक्तियों को उत्तम काव्य की कोटि में नहीं मानते हैं—“चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनको हम 'कवि' कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य-कथन के ढंग में कभी-कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य के द्वारा काव्य की सृष्टि

नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी सम्बन्ध रखते हैं। पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना वालों को हम 'कवि' न कह कर सूक्तिकार कहेंगे।^१ किन्तु शुक्ल जी का यह मत सर्वथा मामूली नहीं है। विद्वानों में इस बात को लेकर विवाद है। सत्य तो यह है कि सूक्तिकारों ने भी जीवन के लिये अनुभव-सिद्ध जो कुछ कहा है वह मार्मिक है, महत्वपूर्ण है, उपादेय है। और यही उनके काव्य की कसौटी का आधार भी है। इन सूक्तिकार कवियों को इसी कसौटी के आधार पर परखना अधिक तर्क एवं न्याय संगत है, इन कवियों को उनके इस साहित्य के आधार पर सहज ही कवि कोटि में स्थान दिया जा सकता है और दिया भी जाना चाहिये।

शृंगार-सतसई

सतसई-परम्परा यद्यपि तुलसी और वृन्द से प्रारम्भ हो चुकी थी, किन्तु सतसई-परम्परा का सीधा सम्बन्ध शृंगार-सतसईयों से है। (शृंगार-सतसईयों की परम्परा में बिहारी-सतसई, मतिराम-सतसई, रसनिधि-सतसई, राम-सतसई, विक्रम-सतसई, चन्दन-सतसई तथा शृंगार-सतसईयों में यद्यपि बहुत से ऐसे दोहे मिल जाते हैं, जो उपदेश और सूक्ति परक है तथा उतनी ही उच्च कोटि की कृतियाँ हैं, जितनी कि तुलसी और वृन्द की, किन्तु इन्हें हम सूक्ति सतसईयों की श्रेणी में नहीं रख सकते। इनका प्रधान विषय शृंगार है और ये शृंगार-सतसईयों हैं जिनका प्रचार सूक्ति-सतसईयों से कहीं अधिक हुआ।^२ इन सतसईयों में बिहारी सतसई प्राचीनतम एवं सर्वोत्कृष्ट रचना है। विद्वानों के अनुसार हिन्दी शृंगार सतसईयों की परम्परा का आरम्भ कविवर बिहारी की 'सतसई' से मानना चाहिए।^३ बिहारी सतसई की प्रेरणा भूमि गाथासप्तशती, अमरुक-शतक तथा आर्यासप्तशती हैं। कहीं-कहीं बिहारी ने श्लोकों का रूपान्तर ही किया है, विशेष रूप से बिहारी हाल की गाथा सप्तशती के श्रुणी हैं।) हिन्दी के पूर्ववर्ती सतसईकार हाल ने जिस परम्परा को जन्म दिया था, उनकी समस्त विशेषताओं के एकत्र दर्शन हमें बिहारी की सतसई में हो जाते हैं। बिहारी-सतसई लोकप्रिय रचना है, इसके अनेक रूपान्तर हुये हैं। (बिहारी-सतसई शृंगार-प्रधान रचना होते हुये भी इसमें शान्त एवं वीर रस के दोहों का अभाव नहीं है। यद्यपि यह लक्षण ग्रन्थ नहीं है तथापि इसमें रस-विवेचन, नायिका-भेद,

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १३३-३४

२ महाकवि मतिराम; पृ० २३४

३ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य पृ० सं० ३२६

शृंगार-रस के उभयपक्षी चित्रण, प्रकृति-चित्रण आदि रीतिकालीन समग्र विशेषतायें प्रतिबिम्बित होती हैं। (अनुभावों की रमणीय विवृति, प्रेम की विभिन्न दशायें, भावों एवं संचारियों का प्रयोग (कवि का दर्शन, जीवन व्यापी-अनुभव, सहज हृदय स्पर्शी शैली में इस सतसई में व्यक्त किया गया है)। दोहे जैसे छोटे से छन्द में ठूस-ठूस कर भरे गये भाव, मौलिक सूझ, अर्थ-गम्भीर्य, भाषा की कसावट, (कल्पना की समाहार शक्ति और अलंकारों की छटा आदि सभी काव्य गुण एक साथ मिल जाते हैं)। (दूसरों के भावों को आत्मसात करने की कला भी बिहारी में कमाल की थी। “बिहारी की कला दूसरों के भावों को काट-छाँट कर तराश के साथ अपने ढंग से उपस्थित करने में अद्भुत रूप से सचेष्ट थी। अधिक असंगत न होगा, यदि कहा जाय कि पूर्ववर्ती कवियों के शृंगारिक भावों का कलात्मक रूप ही बिहारी ‘सतसई’ है।” बिहारी के शृंगारिक दोहे अपूर्व हैं, उन जैसा अन्य सफल शृंगारी कवि कम ही देखने को मिलता है। (शृंगारिक दोहों में प्रौढ़तम रचना करने वाले प्रथम और अन्तिम कवि बिहारी ही जान पड़ते हैं।) बिहारी की प्रशंसा करते हुये एक आलोचक ने लिखा है—

“बिहारी के दोहों में भाषा की जैसी कसावट, भावों की जैसी मौलिकता, अर्थ की जैसी गम्भीरता मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है। इसके साथ ही उन जैसे अर्थ पूर्ण, भावदर्शन, सुगठित और अलंकृत दोहे किसी ने नहीं लिखे।” यही नहीं मेरे विचार से बिहारी ने स्वयं भी अपने दोहों की प्रशंसा करते हुये लिखा है—जीभ निबौरी क्यों चले बौरी चाखि अंगूर।” (स्व० पद्मसिंह शर्मा ‘बिहारी सतसई’ को ‘प्रखन की रोटी’ कहते हैं, उनके अनुसार इसे जिधर से भी खाओ उधर से ही मधर एवं सरस निकलती है। जार्ज ग्रियर्सन ने इसकी प्रशंसा में लिखा है—

I Know nothing like his verse in any European language. दूसरे एक विदेशी विद्वान् ने भी लिखा है कि—

The work of Biharilal is a triumph of Skill and of belicity in experience (A History of Hindi lit. by F.E. Key.)

(बिहारी की सतसई का मूल्यांकन करने के पश्चात् हम कह सकते हैं कि बिहारी अपने काव्य में भाव एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़ हैं किन्तु भावों की अपेक्षा उनमें कलागत प्रौढ़ता अधिक है)। “भावों की स्वाभाविकता उनकी कलाबाजी एवं मठार के कारण दब-सी गई है, जो काव्य का प्राण है। यही कारण है कि

१ महाकवि मतिराम, पृ० २३४

२ महाकवि मतिराम, पृ० २३६

बिहारी के दोहे बुद्धि को जितना चमत्कृत करते हैं, हृदय को रस में उतना नहीं डुबो पाते। भावों की स्वाभाविक आधार भित्ति पर ही बुद्धि तथा कला को अपनी कारीगरी दिखाने का अवसर मिलता है। कला एवं वैलक्षण्य काव्य में सहसा उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उसके लिए उसे विकास की आरम्भिक पगडण्डियों पर चलना पड़ता है। बिहारी के दोहे मंजिल तक ले जाने वाली सीढ़ियाँ नहीं, बल्कि मंजिल है, जिसकी आधार भूमि हिन्दी कविता में पहले ही से अवश्य वर्तमान थी।^१— “इसके ७१३ दोहों में शृंगारी साहित्य की रचना अपनी चरम सीमा को पहुँच गई है, उक्ति वैचित्र्य तथा वाग्विदग्धता का ऐसा अनुपम उदाहरण एक ही स्थान पर तो समस्त हिन्दी साहित्य में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकता। शरीतिमुक्त कविता होने पर भी इसके दोहों में नायिका-भेद सम्बन्धी उत्तमोत्तम उदाहरण भरे पड़े हैं। कवि के सामने रचना करते समय नायिका-भेद सम्बन्धी हिन्दी की रचनायें अवश्य थीं, जिनकी चरम परिपाक ‘मतिराम’ रचित ‘रसराज’ में उपस्थित किया जा चुका था। इनके पूर्व सूक्ति सतसइयों की रचनायें हो चुकी थीं और उनका तत्कालीन समाज में काफी प्रचलन भी हो चुका था, जिससे इनके कुछ दोहों पर उनका अनिवार्य प्रभाव पड़ा है। सूक्ति अथवा उपदेश परक बिहारी के दोहे भी अत्यन्त उत्तम बन पड़े हैं। हाल की गाथा सप्तशती ऐसी रचनाओं का प्रथम संग्रह है और बिहारी लाल की सतसई इस परम्परा में ही पड़ती है। इसके बाद भी सतसइयों की रचना होती अवश्य रही पर कीर्ति में कोई इसके निकट नहीं पहुँच सकी।”^२ (बिहारी की लोकप्रियता का प्रमाण उसकी टीकायें हैं, अनेक भाषाओं में बिहारी की सतसई की टीकायें हुई हैं) आज तक हो रही हैं सम्भवतः रामचरित मानस के अतिरिक्त अन्य किसी रचना को इतना सम्मान नहीं मिला होगा, जितना बिहारी की सतसई को मिला है। भावों की व्यापकता एवं गम्भीरता भी कभी-कभी बिहारी की बेजोड़ हो उठती है। जीवन के व्यापक अनुभवों को इस सतसई में सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार “जीवन और जगत् के बाह्य एवं आन्तरिक से अनुकूल सामग्री चयन कर कवित्व के पूर्ण परिपाक के साथ सरस उक्तियों की रचना करने की कला उन्हें सिद्ध थी।” (निसन्देह बिहारी के दोहों में एक प्रकार से सम्पूर्ण भाव-जगत् आ समाया है। ग्रियर्सन इसीलिये इन्हें एक जोहरी की दूकान मानते हुये ‘अक्षर कामधेनु’ भी कहते हैं) जहाँ तक कला का प्रश्न है, बिहारी के दोहे मुक्तक-काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं से सम्पन्न हैं, उनके दोहे रस के

१ महाकवि मतिराम पृ० २३६

२ हिन्दी साहित्य पृ० ३२६

छोढ़े-छोटे छींटे अथवा रस भरी पिचकारी हैं। डा० द्विवेदी के शब्दों में “बिहारी उन कवियों में से थे, जिन्हें आजकल सजग कलाकार या ‘कॉन्शस आर्टिस्ट’ कहते हैं।”

⑫ (बिहारी सतसई के अनन्तर दूसरी रीतिकालीन सतसई मतिराम की है। मतिराम की सतसई में उनके ग्रन्थ ‘रसराज एवं ललित मतिराम’ के अनेक दोहों का संचयन किया गया है। मतिराम की यह सतसई शुद्ध ब्रजभाषा की रचना है। उनकी भाषा में अप्रचलित एवं विकृत शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। भाषा के समान उनके भाव भी प्रयत्न-साध्य नहीं हैं, किन्तु बिहारी के समान गठन का अभाव है। (“प्रेम की सुकुमार व्यंजना, नखशिख वर्णन, संयोग एवं वियोग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण मतिराम-सतसई की विशेषतायें मानी जा सकती हैं।”^१ किन्तु कहीं-कहीं बिहारी का भावसाम्य भी सहज मिल जाता है। उदाहरणार्थ—

बिहारी—

कहत सबै बेंदी दियैं, आंकु दसगुनो होतु ।

तिय लिलार बेंदी दियैं, अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥ (३२७)

मतिराम—

होत दसगुनो अंकुहै, दिये एक ज्यों बिन्दु ।

दिये डिठौना यों बड़ी, आनन-आभा इन्दु ॥

(रसनिधि सतसई—)

(‘पृथ्वीसिंह के रतन हजारा’ का लघु संस्करण है। रसनिधि का प्रमुख विषय शृंगार एवं प्रेम है।) इस रचना में प्रेम की तन्मयता है किन्तु अभिव्यक्तिकरण मार्मिक नहीं है। अतः अश्लीलता के दर्शन हो जाते हैं। भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों के अधिक प्रयोग से शैली में शिथिलता आ गई है। कहीं-कहीं पर श्लेष, यमक आदि शब्दालंकारों का चमत्कार दिखाया गया है। कहीं-कहीं बिहारी के भावों का अनुकरण भी दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिए बिहारी का दोहा—

दृग उरझत, टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीत ।

परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीत ॥ (३६३)

इसे रसनिधि शब्दान्तर से ही प्रस्तुत करते हैं—

उरझत दृग बंधिजात मन, कहौ कौन यह रीति ।

प्रेम नगर में आइकै, देखी बड़ी अनीति ॥

⑬

(राम सतसई—राम सहाय दास कृत ‘राम सतसई’ शृंगार-रस की रचना है।

इस रचना में शृंगार रस का सर्वाङ्गपूर्ण सरल एवं ललित शैली में वर्णन किया गया है। यह मतिराम सतसई के समान ही सरस रचना है। इस सतसई पर बिहारी का भाव तथा कला पक्ष परक प्रभाव देखा जा सकता है, सम्भवतः रामसहाय दास के आदर्श बिहारी लाल रहे हैं।

विक्रम सतसई—

(रीतिकालीन सतसई परम्परा में अन्तिम रचना चरखारी के राजा विक्रम सिंह को 'विक्रम सतसई' है। इस रचना के आदर्श भी बिहारी ही रहे हैं। किन्तु अनुकरण सफल नहीं रहा है, बिहारी जैसी प्रतिभा के अभाव में भाव एवं कला की दृष्टि से यह एक शिथिल रचना है। (इसका प्रधान रस शृंगार है। किन्तु बीच-बीच में शान्त रस के दर्शन भी किये जा सकते हैं।)

(आधुनिक काल में निर्मित वियोगीहरि कृत 'वीर सतसई' तथा दुलारेलाल की 'दुलारे सतसई' सतसई परम्परा में अन्तिम रचनायें हैं। वीर सतसई में वीर रस का अङ्ग उपाङ्गों सहित सुन्दर चित्रण किया गया है। हिन्दी साहित्य में वीर रस प्रधान एक मात्र यही सतसई है।) वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है, उत्साह का भाव दया, दान और कार्य आदि में भी रहता है, अतः लेखक ने दया वीर कर्मवीर को भी वीर रस में स्थान दिया है। किन्तु इनके विरह वीर को आलोचकों ने स्वीकार नहीं किया है। (वीर सतसई में सात सौ दोहे हैं, जो कि सात शतकों में विभक्त हैं।) मङ्गलाचरण में भगवान् के वीर रूप की वन्दना की गई है। वीर रस को रसराज स्वीकार करते हुये लिखा है—

छाँड़ि वीर रस अब हमें नहिं भावत रस आन ।

सूझत सावन आंधरहि हरो हरो हि जहान ॥

(वीर रस की इस रचना को मङ्गला प्रसाद पारितोषिक भी मिल चुका है। इस साहित्यिक रचना की भाषा सरल, शैली निर्मल एवं विषय रोचक है।)

(हिन्दी साहित्य के इस सतसई-साहित्य ने हिन्दी पाठकों को सदा ही आह्लादित, चमत्कृत एवं भावविभोर किया है। (इस सतसई साहित्य की निम्न सामान्य विशेषतायें हैं—)

१. शृंगार की प्रधानता,
२. जीवन के व्यापक क्षेत्र का समावेश,
३. जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टि,
४. मुक्तक शैली,
५. काव्य में स्वकीया-परकीया नायिकाओं का निरूपण,
६. प्रकृति का उद्दीपन पक्ष,

७. रूप का प्रभावात्मक तथा नखशिख वर्णन,
 ८. राधा-कृष्ण के नायक-नायिका रूप का विवेचन,
 ९. भावाभिव्यक्ति में वैदग्ध्य तथा अनुभवों का कुशल प्रयोग आदि,

उपर्युक्त समस्त सतसई साहित्य का डा० रणधीर सिन्हा ने दो भागों में वर्गीकरण किया है—

(१) काल के अनुसार, और

(२) प्रवृत्ति के अनुसार,

काल के अनुसार इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—

क-वर्ग : १७ वीं शती में लिखित

१. तुलसी सतसई,

२. रहीम सतसई,

ख-वर्ग : १८ वीं शती के प्रारम्भ में लिखित

१. बिहारी सतसई,

२. मतिराम सतसई,

३. रसनिधि सतसई,

ग-वर्ग : अठारहवीं शती के उत्तरार्ध में लिखित

१. वृन्द सतसई,

घ-वर्ग : १९ वीं शती में लिखित

१. राम सतसई,

२. विक्रम सतसई,

ङ-वर्ग : बीसवीं शती में लिखित

१. वीर सतसई,

प्रवृत्ति की दृष्टि से वर्गीकरण—

(१) सूक्ति प्रधान—उपदेशात्मक

[अ] तुलसी सतसई, [ब] रहीम सतसई, [स] वृन्द सतसई,

(२) शृंगार प्रधान—

[क] बिहारी सतसई, [ख] मतिराम सतसई, [ग] रसनिधि सतसई,

[घ] राम सतसई, [ङ] विक्रम सतसई,

(३) वीर रस प्रधान—

[च] वीर सतसई, /

(सतसई साहित्य में बिहारी लाल—)

 बिहारी लाल का युग हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से रीतिकाल है)

समस्त युग रीति काव्यधारा में आकण्ठनिमग्न था; ब्रजभाषा की प्रचुर रचना होने पर भी उसका रूप न शुद्ध था, न निश्चित ही। किन्तु (कविवर बिहारी लाल ने एक निश्चित व्याकरण, निश्चित शैली की निश्चित भाव-प्रकाशन-प्रणाली का प्रयोग किया है, और हिन्दी शृंगार-सतसई-साहित्य के तो वे जन्म दाता ही हैं। बिहारी सतसई की उत्कृष्टता के कारण :—

(१) समास-पद्धति का उत्कर्ष, इसी उत्कर्ष के कारण उनको “अक्षर-कामधेनु” कहा जाता है।

(२) उच्चकोटि का ध्वनि काव्य सतसई में विद्यमान है।

(३) रस, नायिका-भेद तथा अलंकार की दृष्टि से सतसई के दोहे कवि की भावुकता और उसके पांडित्य के अन्यतम साक्षी हैं।

(४) उसमें हाव-भाव एवं अनुभावों का अत्यन्त सजीव वर्णन है।

(५) प्रकृति के जो चित्र दिये गये हैं, वे Miniature Painting की श्रेणी में आते हैं। अनेक दोहों में प्रकृति को स्वतन्त्र रूप से आलम्बन बनाया गया है।

(६) नीति के दोहों में सांसारिक विषयों पर बड़ी ही मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं और भक्ति के दोहों में कवि भावुक-भक्त के रूप में हमारे सामने आता है। ‘सूक्ति’ और ‘सुभाषित’ की दृष्टि से, ‘सतसई’ अनमोल संग्रह है।

(७) बिहारी की कविता में काव्य रीति के सभी अंग प्रचुर मात्रा में अत्यन्त उत्कृष्टता के साथ उपस्थित हैं। वह भी अलग-अलग नहीं, एक ही साथ, कहीं-कहीं एक ही दोहे में। अलंकारों की सुन्दर योजना, इसकी मधुर व्यंजना तथा शब्दों का लालित्य इतनी मात्रा में एक साथ अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ है।

(८) सतसई में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए सामग्री उपस्थित है। शृंगार के क्षेत्र में बिहारी ने जो कुछ लिख दिया, वही परवर्ती समस्त कवियों का अनुकरणीय बन गया है। परवर्ती समस्त लेखकों की वही अवस्था हुई—जो बिहारी की नायिका के रूप चित्तरों की हुई—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरुर ।

भये न केते जगत के चतुर चितरे कूर ॥ (३४७)

(प्रेमी की दम्ब्यता, प्रेम की विवशता, हास-विनोद, प्रिय में आसक्ति और प्रेम जन्य उत्साह, सौतों की ईर्ष्या, वयः सन्धि, सद्यस्नाता, कटाक्षों की कुटिलता, अपने सम्बन्ध में प्रिय की कही बातों के सुनने की उत्सुकता और ऐसी ही संयोग-वियोग की शतशः परिस्थितियों के सम्बन्ध में रसपूर्ण काव्य एक स्थान पर बिहारी सतसई के अतिरिक्त कहाँ मिलेगा। निस्सन्देह हिन्दी रीति काव्य में बिहारी का अपने काव्य और उसके प्रभाव के कारण एक अत्यन्त विशिष्ट स्थान

है—वही स्थान जो भक्ति काव्य में तुलसीदास या सूरदास का है। वे निश्चित ही रीति काव्य युग के सर्वोत्तम कवि हैं।)

मुक्तककार बिहारी

Handwritten signature and initials

मुक्तक रचनाकारों के क्षेत्र में कविवर बिहारी उस दीप्तिमान ध्रुवतारे के सदृश हैं, जो सबसे पृथक रहकर अपना आलोक विकीर्ण करता है। उनमें मुक्तक रचना की समस्त विशेषताएँ अपने चरम उत्कर्ष पर हैं। जैसा कि डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है “मुक्तक रचना में जितनी भी विशेषताएँ संभाव्य हैं, उनकी रचना में सब पाई जाती हैं। वे अपने चरम उत्कर्ष को पहुंची हुई हैं।”^१ आचार्य शुक्लजी के अनुसार भी “मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुंचा है। इसमें सन्देह नहीं।”^२ डा० रामसागर त्रिपाठी के अनुसार “बिहारी काव्य जगत के प्रतिनिधि कवि है।”^३

उक्त उद्धरण बिहारी के सफल मुक्तककार होने के प्रमाण हैं। उनके काव्य में मुक्तकों की विशेषताएँ कहाँ तक पाई जाती हैं, यह जानने से पूर्व मुक्तक की परिभाषा और उसके अपेक्षित गुणों का एक विहंगम पर्यावलोकन बांछनीय है। मुक्तक शब्द की व्युत्पत्ति मुक्त+क्=मुक्तक, मुक्त का अर्थ है बन्धन रहित अथवा स्वतंत्र। संस्कृत के आचार्यों ने मुक्तक को विभिन्न ढंग से पारिभाषित किया है। उनमें से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं।

मुक्तकं वाक्यान्तर निरपेक्षो यः श्लोकः ।

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमं सताम् ।^४

इन परिभाषाओं के अनुसार मुक्तक उस रचना को कहते हैं जो अपना अर्थ व्यक्त करने में स्वतः समर्थ हो। “जिस रचना का लगाव पूर्वापर किसी दूसरी रचना से नहीं होता वह अनुबन्धहीन स्वतः अर्थद्योतन में समर्थ रचना मुक्तक कहलाती है।”^५

१ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बिहारी पृ० १९८

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७

३ मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी पृ० ५८३

४ अग्निपुराण

५ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र बिहारी की बाण्विभूति पृ० ६६

अभिनवगुप्त ने मुक्तक को प्रबन्ध की भाँति-रस परिपाक में सक्षम माना है। पर डा० श्याम सुन्दर दास इससे सहमत नहीं हैं, उन्होंने लिखा है कि “मुक्तक में रस की निष्पत्ति हो ही यह भी आवश्यक नहीं, इसमें सुभाषित अथवा वाग्वैदग्ध्य की चमक हो।” पर हम इस कथन को स्वीकार नहीं कर सकते। भले ही मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा न हो किन्तु वह रसोद्रेक में समर्थ अवश्य होते हैं। सुभाषित या वाग्वैदग्ध्य काव्य की आत्मा नहीं वरन् काव्य कौशल है। डा० दास ने साध्य-साधन के अन्दर की ओर ध्यान नहीं दिया। इसीलिए वे कहते हैं कि ‘सुभाषित से हमारा तात्पर्य नीति धर्म के उपदेश से युक्ति सूक्ति से है। वास्तव में मुक्तक की स्वाभाविकता नीति सुभाषित में ही परिलक्षित होती है। इसीलिए उसकी आवश्यकता नहीं होती।’ यहाँ भी डा० दास शैली एवं विषय दो भिन्न तत्वों को एक मान रहे हैं। मुक्तक भावों को अभिव्यक्ति करने की एक शैली है और नीति आदि मानसिक भाव हैं।

(एक सफल मुक्तक में जिन विशेषताओं एवं गुणों का सन्निवेश वांछनीय है, वे निम्नांकित हैं :—

(१) मुक्तक में प्रत्येक छन्द अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम होना चाहिए।

(२) मुक्तक में सरसता होनी चाहिए। प्रबन्ध की धारा में तो नीरस पद्य भी उसी प्रकार सरस हो जाते हैं जिस प्रकार पवित्र सलिला-भागीरथ की पावन जलधारा में मलिन जल भी पूत प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु मुक्तक में प्रवाह के अभाव में नीरसता फौरन खटकने लगती है। अस्तु उसे सरस होना चाहिए।

(३) मुक्तककार को व्यंग्य प्रयोग में प्रवीण होना चाहिए। उसके पास प्रबन्धकार की भाँति विस्तृत क्षेत्र न होकर अत्यंत संकीर्ण परिधि रहती है जिसमें उसे अभिधा की अपेक्षा व्यंजना का ही संबल ग्रहण करना पड़ता है।

(४) मुक्तक रचना की सफलता के लिए मुक्तककार में कल्पना की समाहार शक्ति होनी चाहिए। वह अपने भावों को मधुर-मंजुल कल्पना से आवेष्टित कर जितने ही हृदयग्राही ढंग से उपस्थित करेगा, उसकी मुक्तक रचना उतनी ही सफल होगी।

(५) मुक्तककार को अभिव्यंजना के प्रधान माध्यम अर्थात् शब्दों के प्रयोग में दक्ष होना चाहिए। गिने-चुने शब्दों में सफलतापूर्वक भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए उसकी भाषा में समास-गुण का आधिक्य रहना चाहिए।

(६) मुक्तक रचनाकार में मार्मिक दृश्यों का चयन करने की क्षमता

होनी चाहिए) असीमित जीवन-क्षेत्र से उसे ऐसे मार्मिक दृश्य चुन लेने चाहिए जिनका सजीव चित्र वह अपने छंद की छोटी सी चित्रपटी पर प्रस्तुत कर सके। इस प्रकार उसमें पर्यवेक्षण-शक्ति होनी चाहिए।

(७) मुक्तक का वृत्तांश ऐसा होना चाहिए कि पाठक उस तक शीघ्र पहुंच सके।) डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार “जहाँ प्रसंग के आक्षेप में कठिनाई पड़ती है या नाना प्रकार के प्रसंगों का आक्षेप संभाव्य होता है। वहाँ मुक्तक उत्तम नहीं कहा जा सकता है।”^१

(८) सफल मुक्तक में नाद-सौन्दर्य होना चाहिए ✓

(९) मुक्तक में रसमग्न करने की क्षमता होनी चाहिए) शुक्ल जी ने लिखा भी है “इसमें तो रस के ऐसे छोटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।”^२

ये हैं एक सफल मुक्तक रचना की अपेक्षित विशेषताएँ। इनकी कसौटी पर बिहारी सतसई का मूल्यांकन करने से प्रकट हो जाता है कि वे एक सफल मुक्तक-कार थे। मुक्तक रचना की प्रायः सभी विशेषताएँ ही बिहारी के काव्य में दृष्टिगत होती हैं। उन्होंने अपने अधिकांश दोहों में मार्मिक प्रसंगों का ही अंकन किया है। उनके मुक्तक अर्थ की अभिव्यक्ति में स्वतः समर्थ, सरस, व्यंग्ययुक्त, नादपूर्ण और कल्पना की समाहार शक्ति तथा भाषा की समास शक्ति से परिपूर्ण हैं। बिहारी की व्यंग्य-पटुता का उदाहरण देखिए।

(नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिं काल ।

अली कली ही सो बिन्ध्यो आगे कौन हवाल ॥ (३८)

इस व्यंग्योक्ति को साधारण व्यंग्योक्ति नहीं समझना चाहिए। इसने अपने प्रभाव से महाराजा जयसिंह की जीवन-धारा में आमूल परिवर्तन ला दिया था। इसी प्रकार की और भी चुभती हुई उक्तियाँ सतसई में मिलती हैं।)

बिहारी के दोहे नाद-सौंदर्य से युक्त हैं;

उदाहरण स्वरूप—

“रनित भृंग-घंटावली, झरति दान मधुनीर ।

मंद-मंद आवतु चलयौ कुंजरु-कुंज-समीर ॥ (३८८)

(बिहारी के मुक्तकों में कल्पना की समाहार एवं भाषा की समास शक्ति का स्वरूप दृष्टिगत होता है।) शुक्लजी ने इस गुण को सफल मुक्तक रचना-

१ बिहारी की वाग्विभूत, पृ० ६८

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २४७

की कसौटी मानकर लिखा है “जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी, उतना ही मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप में वर्तमान थी।”

इसमें सन्देह नहीं कि मुक्तक रचना की सफलता के लिए कल्पना की समाहारिता और भाषा की समास शक्ति का मूल्य अपरिमित है। कवि अपनी कल्पना की उन्मुक्त उड़ानों से अनुपम एवं चित्ताकर्षक सौन्दर्य का संकलन कर पाठक के समक्ष उपस्थित करता है। वैसे वो सभी प्रकार की काव्य-शैलियों में कल्पना एक आवश्यक उपादान के रूप में स्वीकृत की गई है, तथापि मुक्तक के लिए इसकी आवश्यकता सबसे अधिक है। प्रातिभ-कवि बिहारी के काव्य में हमें यह अत्यंत भव्य स्वरूप में दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए देखिये—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।

कहुँ मुरली, कहुँ पीतंपट, कहुँ मुकुट बनमाल ॥ (१५४)

इस दोहे में कल्पना के द्वारा एक विस्तृत परिधि पर प्रकाश डाला गया है। पहले युद्ध, तत्पश्चात् आहत होना, संज्ञाहीन होना तथा शरीर के वस्त्र व प्रसाधनों का बिखर जाना—आदि विविध स्थितियाँ कल्पना की समाहारिता द्वारा व्यंजित की गई हैं।

इसी प्रकार—

बतरस लालच काल की मुरली धरी लुकाय ।

सौंह करें, भौंहनि हसै देन कहै नटि जाय ॥ (४७२)

इस दोहे में भी कल्पना के माध्यम से नायक की सजीवता, चपलता, विनोद प्रियता आदि विविध तथ्यों को एकसाथ उपस्थित कर दिया गया है।

इस प्रकार मुक्तक की सफलता के लिए कल्पना के जिस कमनीय कलेवर की आवश्यकता है। बिहारी में वह विद्यमान है। कल्पना रूढ़िमुक्ति और रूढ़ियुक्त दोनों ही प्रकार की हो सकती हैं। रूढ़ियुक्त संदर्भ कल्पना के लिए सहृदय का शास्त्र विहित काव्य परिपाटी से अभिज्ञ होना आवश्यक है, क्योंकि तभी वह कवि की रचना का आस्वादन कर सकेगा। काव्य परिपाटी से अनभिज्ञ पाठक निम्न दोहे का रसपान नहीं कर सकता—

बिथुरयौ जावक सौति-पग निरखि हंसी गहि गांस ।

सलज हंसौहीं लखि लियौ, आधी हंसी उसांस ॥ (५०७)

इस दोहे का प्रसंग यह है कि कोई नायिका अपनी सौत के पैर में टेढ़ा-मेढ़ा

महावर लगा देखकर उसके वेशऊरपन पर व्यंग्य से हंसी। सोत यह देख लज्जित होकर हंसने लगी हो गई। नायिका ने तुरन्त ताड़ लिया कि मेरे नायक ने ही इसके पैर में महावर लगाया है, तभी अंगस्पर्शजन्य कंप के कारण यह फैल गया है। इसलिए वह तुरी तरह हंसने भी न पाई, बीच में ही उसांस लेने लगी।^१ यदि कोई इस रूढ़ि को न जानता हो, कि नायक प्रेम के प्रसंग में महावर लगाया करते हैं, और उनके सात्त्विक भाव (कंप) का क्या परिणाम हो ता है, वह उक्त दोहे का अर्थ समझ नहीं सकेगा।

यद्यपि बिहारी ने कल्पना का रूढ़ियुक्त रूप कम अपनाया है, पर इसका आधिक्य मुक्तक का गुण न रहकर दोष बन जाता है। जैसा कि डा० बच्चनसिंह ने लिखा है कि “मुक्तकों में सन्दर्भ कल्पना को उतना ही महत्व देना चाहिए, जितना उसका प्राप्य है। सन्दर्भ-कल्पना काव्य का सहायक उपकरण है, वह स्वतः काव्य नहीं है। यह कल्पना जहाँ चक्करदार होगी, वहाँ रूढ़ियों की प्रधानता काव्यात्मकता को बहुत कुछ गौण बना देगी। बिहारी ने चक्करदार सन्दर्भ-कल्पना के अतिरिक्त स्वाभाविक सन्दर्भ कल्पना का भी सहारा लिया है। और ऐसी कल्पना का उनमें आधिक्य है।”^२ निस्सन्देह बिहारी-सतसई में इस प्रकार की स्वाभाविक कल्पनाएँ हैं। इन स्थलों पर (बिहारी का काव्यत्व परमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। बिहारी के मुक्तकों की सफलता का रहस्य कल्पना की यह समाहार-शक्ति तो है ही, साथ ही भाषा की समास-शक्ति भी है। सामासिक पद्धति में अर्थ को खूब समेटना पड़ता है, संक्षिप्त करना पड़ता है) रहीम के दोहे की सामासिक पद्धति की परिभाषा इस प्रकार की है—

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहि ।

ज्यों रहीम नट कुंडली सिमिट कूदि चलि जाहि ॥

(बिहारी समास शक्ति की सूक्ष्मता से पूर्ण परिचित हैं। बड़े-बड़े व्यापक प्रसंगों को बिहारी एक छोटे से दोहे में आबद्ध कर देते हैं। बिहारी की इस क्षमता की अनेक विद्वानों ने प्रशंसा की है) डा० रामसागर त्रिपाठी ने लिखा है—“इनमें भाषा का समास गुण भी अद्वितीय है।”^३)

(बिहारी सतसई के दोहों में जो समाहार शक्ति एवं भाषा की समास शक्ति है, उनके कारण वे एक सफल मुक्तककार माने गये हैं) आचार्य शुक्ल और विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र तो बिहारी के मुक्तकों में मुक्तक रचना की सभी विशेषताएँ देखते ही हैं, किन्तु डा० गणपतिचन्द्र गुप्त इन विद्वानों के कथन को अतिशयोक्ति पूर्ण मानकर इससे

१ विश्वनाथप्रसाद मिश्र, बिहारी पृ० १२६

२ बिहारी का नया मूल्यांकन पृ० ११५-११६

३ मुक्तक-काव्य परम्परा और बिहारी, पृ० ५८३

सहमत नहीं हैं। डा० गुप्त के अनुसार बिहारी की “जिस समास शक्ति की इतनी प्रशंसा की गई है, उसमें रसानुभूति की दृष्टि से दोष हैं; बिहारी का पाठक दोहों को पढ़ते ही रसमग्न नहीं हो जाता, अपितु पहले उसे अर्थ समझने के लिये उसके मस्तिष्क को अच्छा व्यायाम करना पड़ता है, तब कहीं उसे रस की एक-दो बूँद प्राप्त होती हैं। बिहारी के दोहे मीठे अंगूर नहीं हैं, जो मुँह में डालते स्वाद देने लग जाँय, अपितु श्रीफल की भाँति शुष्क और कठोर हैं, जिनके रस तक पहुँचने के लिये पाठक को पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है। बिहारी के अनेक दोहे कोरी सूक्तियाँ हैं, जिनमें अनुभूति का योग नहीं मिलता। यदि हम देव, पद्माकर और घनानन्द के मुक्तकों से बिहारी के दोहों की तुलना करें, तो वे फीके से प्रतीत होते हैं। वार्तालाप या प्रेमालाप की जैसी सरसता देव और पद्माकर में मिलती है, उसका सतसई में अभाव है।”^१ डा० गुप्त ने पद्माकर के प्रेमालाप प्रसंग की तुलना बिहारी से की भी है—

को हों में तिहारी ? तू तो मेरी प्राणप्यारी ।

अजू होती जो पियारी तो रोती कहाँ काहे को ॥

पद्माकर के इस दोहे से बिहारी का यह दोहा तुलना नहीं कर सकता—

लाल कहा लाली भई, लोयन कोयन मांहि ।

लाल तिहारे दृगन की परी दृगनु में छांहि ॥

डा० गुप्त ने और भी लिखा है कि “हमारे विचार से मुक्तककार के रूप में बिहारी एक अच्छे अनुवादक थे, ब्रजभाषा का उन्हें अच्छा ज्ञान था, शब्दों के प्रयोग में वे दक्ष थे तथा उनकी सतसई में इधर-उधर से जुटाई हुई थोड़ी-बहुत मधुर उक्तियाँ भी मिलती हैं किन्तु अनुभूति की जैसी सरसता घनानन्द, देव, पद्माकर आदि में मिलती है, उसका उनमें अभाव है। शुक्ल जी मुक्तक काव्य को गुलदस्ते की उपमा देते हैं, किन्तु बिहारी के इस गुलदस्ते में फूलों के साथ-साथ काटे भी विद्यमान हैं, जो कभी पाठक के हृदय को रससिक्त करने के स्थान पर उसके मस्तिष्क को कुरेद देते हैं।”^२ डा० गुप्त के कथन मात्र से ही बिहारी को हम हीन नहीं मान सकते। यदि हम छिद्रान्वेषण के संकुचित दृष्टिकोण को त्याग दें, यदि नई बात कहकर लोकप्रिय होने का मोह न करें, तथा परम्परागत बिहारी के आलोचकों को अपना मानदण्ड न बनायें; तो यह स्वीकार करना ही होगा कि बिहारी मुक्तक रचना में पर्याप्त सफल हुये हैं। उनके काव्य में मुक्तक रचना के सभी गुण विद्यमान हैं। हाँ, यह सम्भव है कि कुछ स्थल मस्तिष्क को कुरेदें हों, यह भी सुनिश्चित है

१ हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी, पृ० १४१

२ हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी पृ० ४२१-४२२

कि जिन कवियों की तुलना में बिहारी को हेय सिद्ध किया जा रहा है, उनके काव्य में भी इस प्रकार के मस्तिष्क कुरेदने वाले तथा नीरस स्थलों की कमी नहीं है। और बिहारी की सतसई में भी रस भरी पिचकारियों की कमी नहीं। (निस्सन्देह बिहारी मुक्तक रचना में सर्वतोभावेन सफल हुये हैं।)

९

✓

कल्पना की समाहार एवं भाषा की समास शक्ति

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिहारी के मुक्तक साहित्य की समीक्षा करते हुए लिखा है कि बिहारी के दोहों में मुक्तक कविता में जो गुण होने चाहिए, वे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं। उसी प्रसङ्ग में उन्होंने आगे भी लिखा है कि “जिस कवि में कल्पना की समाहार शक्ति के साथ भाषा की समास शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्तमान थी।”^१ आचार्य शुक्ल का यह कथन सर्वांश में सत्य है। क्योंकि मुक्तक अपना अर्थ अभिव्यक्ति करने में स्वतः समर्थ होता है।^२ उसके पद्य एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होते हैं, अपितु मुक्त होते हैं,^३ वे पूर्वापर संबंध से निरपेक्ष होते हुए भी रसचर्वणा कराने में समर्थ होते हैं।^४ वस्तुतः मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा प्रसङ्ग की कल्पनाओं में विस्तृत पाठक हृदय में एक स्थायी आनंद प्राप्त करता है। (मुक्तक काव्य में इस प्रबन्धात्मकता के अभाव स्वरूप कवि को कल्पना की समाहारिकता तथा भाषा की समास पद्धति का अवलम्बन लेना पड़ता है, जिसके द्वारा वह पाठक को रसचर्वणा कराता है।)

(कल्पना की समाहारिता का अभिप्राय यह है कि कवि अपनी कल्पना की उन्मुक्त उड़ान से अधिक से अधिक भावाकर्षक सौन्दर्य-सृष्टि एवं भाव विधान की योजना कर पाठक को अतिभूत कर रसमग्न करे। बिहारी में कल्पना का चरमो-

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २४७

२ मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् । अग्निपुराण

३ छंदोबद्धं पदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ॥ साहित्य दर्पण

४ पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ॥ ध्वन्यालोक लोचन

त्कर्ष देखा जा सकता है, उनकी कल्पना का क्षेत्र व्यापक तथा समृद्ध है। बिहारी रससिद्ध कवि थे, उनके प्रतिभा सम्पन्न हृदय में प्रचुर अनुभूतियाँ एवं मस्तिष्क में विपुल कल्पनात्मक उद्भाविका शक्ति थी। जब भी वे किसी भाव को अपने दोहे में निबद्ध करने की इच्छा करते थे तभी अनेकानेक सुकुमार कल्पनाएँ आकर उनके दोहे का शृंगार करने लगती थीं। बिहारी अपनी कल्पना की समाहार शक्ति के कारण अनेक चित्रों को एक ही दोहे में निबद्ध करते हैं—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ।

सौंह करै, भौंहनि हँसे, देन कहै, नटि जाय ॥ (४७२)

इस दोहे में नायिका की सजीवता, चपलता, विनोद प्रियता, संयोग-शृंगार आदि तत्त्व एक ही स्थान पर मिल जाते हैं। हास्यरस का भी अपना अपूर्व योगदान है। कल्पना की मधुरता तो झलकती ही है।

कवि ने निम्न दोहे में कल्पना की समाहार शक्ति के द्वारा विलास का मार्मिक चित्र अंकित किया है—

लखि गुरुजन-विच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम ।

हरि-सनमुख करि आरसी हियै लगाई बाम ॥ (३४)

नायक नायिका को गुरुजनों के बीच बैठा देखकर अपनी क्रियाविदग्धता के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है, जैसे कमल का सिर से छुलाना (नायक का नायिका के चरणों में नमित होना) और नायिका का दर्पण को हृदय से लगाना नायक को अपने हृदय में बसाने के भाव की ओर संकेत कर रहा है। बिहारी की दोनों ही कल्पनाएँ मधुर आनन्द का सृजन करती हैं, निस्सन्देह ये कल्पनाएँ अपूर्व हैं। बिहारी का एक अन्य कल्पना-चित्र देखिए—नायिका-नायिक कहीं जा रहे हैं, नायक कंकड़ों पर चलने लगता है, फलतः कंकड़ गड़ने का अनुमान कर नायिका सी-सी की ध्वनि करती है। उसकी इस मुद्रा पर आसक्त नायक बार-बार उसी पथ पर चलता है। इस कल्पना में नायक-नायिका का प्रेम, नायिका की मुद्रा, विलास आदि के वर्णन दर्शनीय हैं—

नाक चढ़ै सीबी करै जितै छबीली छैल ।

फिरि फिरि भूलि वहै गहै पिय कंकरीली गैल ॥ (६०६)

बिहारी की कल्पना की समाहार शक्ति का एक अन्य मार्मिक उदाहरण भी देखिए—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल ।

कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहुँ मुकुट, बनमाल ॥ (१५४)

इस चित्र में कल्पना के द्वारा युद्ध, तत्पश्चात् धायल होना, संज्ञाहीन होना

तथा शरीर के वस्त्र और प्रसाधनों का बिखर जाना आदि विभिन्न स्थितियों को दूर तक समेट लिया गया है और स्थितियों की एक व्यापक परिधि पर प्रकाश डाला गया है।

भावशक्तता का प्रस्तुत चित्र भी बिहारी की कल्पना की समाहारिता का सुन्दरतम उदाहरण है—

बालमु बारें सौति कै सुनि परनारि-बिहार ।

भोरसु अनरसु, रिस, रली, रीभ खीझ इकवार ॥ (१८७)

इस दोहे में नायिका ने नायक को सौत की बारी आने पर स्त्री-बिहार करते सुना, उसे सुनकर उसके हृदय में जो भाव उठे, उनका वर्णन करते हुए सखी कहती है कि नायक सौत की बारी पर पर-नारी बिहार करते सुनकर नायिका को सुख मिला, फिर दुःख हुआ, रोष हुआ, उसके मन में उपहास की वृत्ति उदित हुई, फिर मन में प्रसन्नता हुई और खीझ भी। इन भावों के एक साथ और एक स्थान पर बिहारी ने बखूबी दिखाया है। इस दोहे की व्याख्या करते हुए लाला भगवानदीन जी लिखते हैं कि सुख इष्याजन्य, कि अच्छा हुआ सौत को दुःख हुआ। दुःख इस बातका की एक सौत तो थी ही अब एक और हुई। 'रिस' इस बात की कि नायक मेरे ही यहाँ क्यों न चला आया। 'रली' (क्रीड़ा या मजाक) इस बात पर कि सौत ऐसी गुणवती नहीं है कि प्रीतम को अपने वश में करके अपने पास रख सके। 'रीझ' इस बात की कि नायक मेरे ऊपर अधिक अनुरक्त है, क्योंकि मेरी पारी में कहीं नहीं जाता। 'खीझ' इस बात की कि बुरी आदत पड़ी, सम्भव है कभी मेरी पारी के दिन भी नायक परस्त्री के पास जाय।^१

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बिहारी सतसई में कल्पना की समाहार शक्ति व्यापक है। एक नहीं, न जाने कितने सुन्दर मनोरमा और हृदयग्राही चित्र सतसई के एक-एक दोहे में मिलते हैं। कवि कल्पना को डा० बच्चन सिंह ने रूढियुक्त और रूढिमुक्त दो प्रकार का माना है। रूढ़ि युक्त संदर्भ-कल्पना वहाँ होती है जहाँ पर कवि शास्त्र विहित परिपाटी का अनुगमन करता है और रूढ़ि-मुक्त संदर्भ-कल्पना में कल्पना के स्वाभाविक चित्रों का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। जहाँ तक वैशिष्ट्य का प्रश्न है, हम रूढ़िमुक्त को ही उत्कृष्ट मानते हैं। बिहारी में इसी का अधिक्य है। यद्यपि उन्होंने काव्य परिपाटी का भी अनुगमन किया है, परन्तु हम मुक्तक रचना की सफलता की दृष्टि से उन्हीं स्थलों को महत्व प्रदान करते हैं जहाँ वह कष्ट-कल्पना नहीं होती है। कल्पना की समाहार शक्ति के प्रसङ्ग में दिये गए उपर्युक्त सभी उद्धरण उनकी स्वाभाविक कल्पना के उदाहरण हैं।

(बिहारी की भाषा समास शक्ति की अमूल्य निधि है। डा० रामसागर त्रिपाठी के शब्दों में “इनमें भाषा का समास गुण भी अद्वितीय है।”^१ बिहारी की इसी “गागर में सागर” भरने वाली समास-शक्ति की पटुता के कारण किसी प्रशंसक आलोचक ने लिखा है—

सतसैयो के दोहरे ज्यों नाविक के तीर ।

देखन में छोटे लगे घाव करें गम्भीर ॥

सामाजिक पद्धति में अर्थ को खूब समेटना पड़ता है, संकुचित करना पड़ता रहीम ने दोहे की सामाजिक पद्धति की परिभाषा इस प्रकार की है—

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आँहि ।

ज्यों रहीम नट-कुंडली सिमिट कूदि चलि जाँहि ॥

(जिस प्रकार जड़ाव की कारीगरी होती है, कि उसे जितना भी ध्यान से देखा जावे, उतना ही जौहर खुले, उसी प्रकार दोहे में भी ऐसा ही जड़ाव होता है।) सूक्ष्म रूप से देखने पर ही उसका वास्तविक मूल्य जान पड़ता है। मतिराम की नायिका की भाँति—“ज्यों-ज्यों नैरे ह्वै निहारियै ज्यों-स्यों निकसि री निकाई” दोहे का अर्थ-सौन्दर्य भी निकट जाने पर दिखाई पड़ता है।

कहना न होगा कि बिहारी समास पद्धति की समस्त सूक्ष्मताओं से परिचित थे। स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने उनकी इसी समास शैली के विषय में लिखा है कि जरा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था वह वहाँ से निकलते ही इतना फँका कि कुण्डलियों और कवित्तों के बड़े मैदान में नहीं समा सका। मानों गंगा का समृद्धवेग प्रवाह है जो शिवर्जा की लटों से निकलकर फिर किसी के काबू में नहीं आता।^२ उदाहरण के लिए बिहारी के अमरुक शतक.....

शतक के एक ७६ अक्षरी वाले श्लोक को लिया जा सकता है। बिहारी इस श्लोक के भाव को दोहा छन्द में कलात्मक रूप में आवद्ध करते हैं—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छणै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्य पत्युर्मुखम् ।

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जात पुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्,
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अमरुशतकम् (८२)

इस विस्तृत श्लोक का भाव बिहारी के दोहे में देखिये—

१ मुक्तक-काव्य परम्परा और बिहारी, पृ० ५८३

२ बिहारी की सतसई, प्रथम भाग पृ० ३२

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यो ढिग जाय ।

हंस्यौ, खिस्यानी, गल गह्यो, रही गरे लपटाय ॥ (६४२)

यह है बिहारी की समासशक्ति । थोड़े में बहुत कुछ कहना । इस प्रकार के अमरुक के अनेक श्लोकों के भावों को बिहारी ने अपनी समासशक्ति से दोहों में भर दिया है । इसी प्रकार विकटनितम्बा के इस श्लोक को देखिये—

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।

मुग्धामाजातरजसं कलिकामकाले व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

बिहारी ने इस श्लोक के भाव को—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल ।

अली कली ही सौं बध्यौ, आगे कौन हवाल ॥ (३८)

दोहे में समेट लिया है ।

बिहारी की समास शक्ति का यह उदाहरण भी दर्शनीय है—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर—चित प्रीति ।

परति गांठि दुरजन-हियै; दई, नई, यह रीति ॥ (३६३)

इस दोहे में प्रेम के क्षेत्र में होने वाली समस्त क्रियाओं को असंगति अलंकार के माध्यम से समास शैली में बद्ध किया गया है ।

कवि कल्पना की समाहार शक्ति से बड़े-बड़े प्रसङ्गों को अनुबन्ध में रख लेता है और भाषा की समास शक्ति से कुछ इने गिने शब्दों में ही उन्हें प्रस्तुत कर देता है ।

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।

कम्प किसोरी दरसि तें, खरै लजाने लाल ॥ (६०१)

इस दोहे में एक लम्बा प्रसङ्ग है, श्रीकृष्ण जी ने ब्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत उठाया था, पर प्रेयसी राधा की ओर देखने से कंप होने लगा, हाथ के कांपने से पर्वत डगमगाने लगा, ब्रजवासी घबरा उठे, राधिका कांप उठी, आदि भावों के साथ कृष्ण एवं राधा के प्रेम-प्रसङ्ग की अभिव्यक्ति हो जाती है । आशय यह है कि बिहारी की भाषा में कसाव है, समासशक्ति है, प्रसङ्ग गर्भत्व है । श्री रामकृष्ण दास के शब्दों में ऐसे गठे हुये वाक्य बिहारी सतसई के अतिरिक्त अन्यत्र अप्राप्य हैं ।

(बिहारी के शृंगार, नीति और भक्ति आदि सभी प्रकार के दोहों में कल्पना की समाहारिता एवं भाषा की समासशक्ति का मणि-कांचन संयोग हुआ है । इसलिये

वे अपने मुक्तक काव्य से रस की पिचकारी सी छोड़ते चलते हैं और पाठक के मन को वशीभूत किये रहते हैं) इसके लिए उन्होंने कहीं भी दोहे का अङ्ग विच्छेद या शब्दों की तोड़-मरोड़ नहीं की है। (निष्कर्षतः आचार्य शुक्ल का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि बिहारी की कविता में कल्पना की समाहारशक्ति एवं भाषा की समास शक्ति पूर्णरूप से विद्यमान है।)



१०

बिहारी का भाषा-सौन्दर्य

(बिहारी ब्रजभाषा के कवियों में भाषा के सफल प्रयोग की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं। बिहारी की सतसई इसका प्रमाण है। “यदि भाव कविता का प्राण है, तो भाषा कविता का शरीर” यह कथन सर्वांश में सत्य है, क्योंकि काव्य का सौन्दर्य भाव भाषा के सौन्दर्य पर ही निर्भर रहता है, एक की अपूर्णता काव्य सौन्दर्य को सदोष सिद्ध कर देती है। भाव बिना सुन्दर भाषा के अपने को व्यक्त तो कर सकता है, किन्तु उसका लावण्य सुन्दर भाषा में ही अधिक आकर्षक हो सकता है। सजीव भाषा के प्रयोग से साधारण भाव भी अपना चमत्कार प्रकट कर देते हैं। काव्य का अस्तित्व ही भाव और भाषा के सहयोग में ही सम्भव है।)

गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न ।

और भामह ने भी भाव और भाषा के समान अस्तित्व को काव्य से स्वीकार किया है—“शब्दार्थौ काव्यम् ।” किन्तु भाषा की अपेक्षा भाव को विशेष महत्व प्राप्त है, इसीलिए उसे आत्मा अथवा प्राण कहा जाता है और भाषा को शरीर काव्य की भाषा भाव को मूर्तिमान रूप प्रदान करती है। भाषा भावों के अनुरूप होने पर अधिकसौन्दर्य-वती हो जाती है। जिस प्रकार एक कुरूप नारी जिसका स्वभाव अपूर्व है, किन्तु वह किसी व्यक्ति को सहसा अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होती है, इसी प्रकार सुन्दर भाव वाली कविता भी भावानुरूप भाषा के न होने पर प्रभावोत्पादन में पूर्णतः समर्थ नहीं होती। महाकवि पोप ने ठीक ही लिखा है कि—It is not enough, no harshness gives offence, The sound must seem an echo to the Sense.” “काव्य की भाषा में यही पर्याप्त नहीं है कि भाषा में कर्णकटता न हो, पर यह भी आवश्यक है कि शब्दावली के उच्चारण-मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाय। काव्य में भाषा का महत्व है, भाषा के प्रधान तत्व शब्द हैं, शब्दों के द्वारा ही भाषा अपने को मूर्तिमान करती है। एक कवि अपनी कविता में शब्दों का चुन-चुन कर प्रयोग करता है, उसके शब्दों का चुनाव जितना सटीक, युक्त संगत और सार्थक होगा,

उसकी कविता उतनी ही प्रभावोत्पादक होगी। कविता एक अंगरेज कवि के अनुसार तो “उत्तमोत्तम शब्दों का उत्तमोत्तम क्रम विधान है।” यह क्रम विधान जितना ही सुन्दर होगा, कविता उतनी प्रभावशालिनी होगी। टेनीसन का मत है कि—

All the Charm of all the muses often flowing in a lovely word.” प्रायः कविता के एक ही शब्द विशेष में सम्पूर्ण कलाओं का अशेष सौन्दर्य व्यक्त हो जाता है। अतः किसी भी कवि की भाषा का महत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है, जो कवि भाषा के प्रयोग में जितना कुशल होगा, वह उतना ही सफल होगा।

(हिन्दी साहित्य का रीतिकाल भाषा के सम्बन्ध में विशेष सजग है, उसके कवि भाषा के महत्व से परिचित हैं, अतः इस काल का प्रत्येक कवि भाषा का भावानुरूप प्रयोग करता है, वह अलंकारों, काव्य-गुणों और रीतियों का ध्यान रखता है। इसीलिये हिन्दी साहित्य का रीतिकाल ब्रजभाषा की कविता का स्वर्ण-काल कहलाता है। इस काल में ब्रज भाषा अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त करती है।

रीतिकाल के इन गौरवशाली कवियों में महाकवि बिहारी लाल मूर्धन्य हैं, बिहारी-सतसई में ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप और उसका साहित्यिक गौरव पूर्णतः सुरक्षित है, निश्चित ही ब्रजभाषा ने यहाँ आकार “न भूतो न भविष्यति” वाले कथन को चरितार्थ किया है। इसीलिए प्रसिद्ध भी है—

ब्रजभाषा बरनी सबै, कविवर बुद्धि बिसाल।

सबकी भूषन सतसई रची बिहारी लाल॥

(महाकवि बिहारी को भाषा पर कमाल हासिल था, वे रीतिकाल के ही नहीं, ब्रजभाषा साहित्य के श्रेष्ठतम कवि हैं। बिहारी लाल की भाषा की प्रशंसा करते हुये विभिन्न विद्वानों ने उन्हें ब्रजभाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि स्वीकार किया है।) (कुछ विद्वानों के मत इस प्रकार है—)

(श्री लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी ने लिखा है—“महाकवि बिहारी लाल जी की भाषा में काव्य की भाषा में जिनकी आवश्यकता है, वे सब गुण ओत-प्रोत हैं। शब्दों का प्रयोग सतसई में बड़े ही अनूठे ढंग से, बजन तोलकर, देश, काल, पात्र का ध्यान रखकर किया गया है।) बिहारी लाल जी की भाषा में मनोभावों का प्रतिबिम्ब निर्मल दर्पण की तरह झलकता है। बहुत थोड़े में गम्भीर अर्थ ध्वनित करने वाले सुन्दर-से-सुन्दर प्रचलित शब्दों की सुन्दर सजावट, रसानुकूल भाषा का प्रवाह, मुहाबिरे की तेजी आदि सभी दर्शनीय हैं। फिर बिहारी लाल जी ने माधुर्य और प्रसाद को तो अनुचर सा बना डाला है। व्याकरण-विशुद्ध, परिमार्जित भाषा और वाक्य-लाघव में बिहारी लाल जी अद्वितीय हैं। पद-विन्यासचातुर्य, माधुर्य, अर्थ-

गांभीर्य और स्वाभाविक बोल-चाल आदि गुणों में वह सर्वश्रेष्ठ हैं।”^१ बिहारी की सतसई में तीनों गुणों के दर्शन यत्र-तत्र किये जा सकते हैं, किन्तु माधुर्य गुण के प्रयोग में बिहारी विशेष सफल हुये हैं। बिहारी की भाषा माधुर्य-गुण से पूर्ण है। सतसई माधुरिमा से आकण्ठ निमग्न है। सतसई को पढ़कर ऐसा लगता है मानों माधुर्य का पारावार लहरा रहा है। बिहारी के इस गुण की प्रशंसा करते हुए श्री पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है कि “संस्कृत-भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषा का माधुर्य भी निराली चीज है। वह सितोपला है, तो यह द्राक्षा है। (बिहारी शृंगारी कवि, भाषा ब्रजभाषा, शृंगार रस की कविता (शृंगारी चेतकविः जातं रसमयं जगत्) अहो रम्य परम्परा!) इसका आस्वादान कर चुकने पर भी यदि चित्तवृत्ति कुसंस्कारवश कहीं अन्यत्र रसास्वाद के लिए जाना चाहती है तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

मो रस राच्यो आन रस कहै कुटिल मति क्रूर ।

जीभ निबौरी क्यों लगै बौरी चाखि अंगूर ॥^२

(बिहारी के कटु आलोचक मिश्रबन्धु भी बिहारी की भाषा की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

“कुल बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारी लाल जी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात, आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रखे हैं कि.....दोहा चमचमा उठता है। इसी प्रकार जैसा वर्णन किया है, उसी के अनुसार भाषा भी लिखकर उसका रूप खड़ा किया है।”..... इस कविरत्न की बोल-चाल बहुत ही स्वाभाविक है। इन महाकवि ने इबारत आराई भी खूब ही की है।”^३

(बिहारी लाल की भाषा की प्रशंसा करते हुये आलोचक प्रवर बाबू राधाकृष्ण दास जी ने भी लिखा है कि—

“मुहाविरें और उत्प्रेक्षा के तो बिहारी लाल बादशाह थे। हिन्दी में ऐसी बोल-चाल और ऐसे गठे हुए वाक्य किसी की कविता में नहीं पाये जाते। उर्दू के कवि कुल-भूषण नसीम और अनेस भी कदाचित् बोल-चाल में इनके सामने न ठहर सकेंगे।”^४ इस प्रकार अनेक बिहारी-साहित्य के समालोचकों ने बिहारी की भाषागत

१ बिहारी-दर्शन, पृ० ५८ (प्रथम संस्करण)

२ सतसई संजीवन भाष्य पृ० २४ (भूमिका)

३ हिन्दी नवरत्न द्वि० सं० पृ० २९०-२९१

४ कविवर बिहारीलाल, पृ० १७

विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। निस्सन्देह बिहारी का भाषा पर असामान्य अधिकार था, उन्होंने दोहे जैसे छन्द के लिये अपनी जिस भाषा का चुनाव किया है, वह प्रशंसनीय है। बिहारी शब्दों के चुनाव में, अलंकारों के चुनाव में, समसों के प्रयोग में प्रायः सफल रहे हैं। इसी सफलता के मूल में उनकी सजगता है; परिणामस्वरूप भाषा की चुस्ती, कसावट और सशक्तता सर्वत्र विद्यमान है।

बिहारी की भाषा माधुर्य गुण विशिष्ट है, यह माधुर्य-गुण मन को भाव विभोर कर अपनी ओर 'सहज ही आकृष्ट कर लेता है। माधुर्य-गुण की कविता कोमल कान्त पदावली में होती है, अनुस्वरात्मक वर्णों का अधिक प्रयोग किया जाता है।' कटु ध्वनि वाले वर्णों का उसमें अभाव रहता है और लघु समासों का कभी-कभी प्रयोग किया जाता है। बिहारी के दोहों में ये समस्त गुण विद्यमान हैं उदाहरण के लिए निम्न दोहे प्रस्तुत हैं—

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार ।

चुवत सुरंग रंग-सी मनो चपि विछियन के भार ॥ (४१८)

नहिं पराग नहिं मधुर-मधु नहिं बिकास इहिं काल ।

अली कली ही तैं बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥ (३८)

बिहारी का यह माधुर्य-गुण उन दोहों में और भी अधिक दृष्टिगत होता है, जहाँ मंद-मंद ध्वनि कोमलकान्त पदावली में अपना स्वर मुखर करती है—

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु-नीर ।

मंद-मंद आवत चलयौ कुंजर कुंज समीर ॥ (३८८)

बिहारी के दोहों में माधुर्य-गुण लबालब भरा हुआ ये दोहे माधुर्य की पिचकारी सी छोड़ते चलते हैं।

(बिहारी की भाषा में माधुर्य गुण को और भी अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अनुप्रास अलंकार सहयोग करता है)। ऐसे स्थल विशेष रूप से प्रभावशाली हो उठते हैं—जैसे—

अधर धरत हरि के परत ओठ-दीठ-पट-ज्योति;

हरित बाँस की बाँसुरी इन्द-धनुष-रंग होति ॥ (४२०)

(बिहारी ने भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए यमक अलंकार का भी जमकर प्रयोग किया है। ऐसे दोहों में एक-एक शब्द नगीने की भाँति जड़ा हुआ दिखलाई पड़ता है, जो कि भाव-भाषा में एक चमत्कार उत्पन्न कर, आकर्षण का कारण बनता है—

कनक-कनक तैं सौ गुनी मादकता अधिकाय ।

वह खाए बौराय नर, यह पाए बौराय ॥ (१९२)

इस दोहे में 'कनक' शब्द का प्रयोग विशेष चमत्कार जनक है । अर्थ गम्भीर और शब्द सुषमा प्रशंसनीय है । बिहारी ने यमक अलंकार प्रयोग कर भावानुकूल, स्वाभाविक एवं प्रभावात्मक भाषा लिखकर ब्रजभाषा के आकर्षण को और भी द्विगुणित किया है ।)

(बिहारीलाल शब्द प्रयोग के विशेषज्ञ थे, वे एक-एक शब्द का महत्व जानते थे, इसलिए उनके शब्द प्रयोग के कौशल ने उन्हें टकसाली ब्रजभाषा लिखने में पूर्ण सहायता दी है, इस टकसाली भाषा में उनका भाव-सौन्दर्य सर्वत्र सुरक्षित रहता है) । क्रमशः दो उदाहरण लीजिए—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट-पट झीन;

मानहु सुर-सरिता बिमल जल उछलत जुग मीन ॥ (५७६)

इस दोहे में प्रयुक्त चमचमात, 'झीन', और 'उछलत' शब्द दर्शनीय हैं, अपने स्थान पर कितने सटीक हैं । इसी प्रकार—

लहलहात तन तरुनई, लचलग लौ लफ जाइ;

लगै लाँक लोयन भरी, लोयन लेत लगाइ ॥ (५३२)

इस दोहे में कितनी स्वाभाविक भाषा का प्रयोग हुआ है, शब्दों में न कहीं बनावट है और न तोड़-मरोड़, भाव-सौन्दर्य भी सुरक्षित है ।

बिहारी की अर्थ गाम्भीर्य पूर्ण, रसीली, माधुर्य से सराबोर साहित्यिक भाषा का एक प्रवाह पूर्ण दोहा और लीजिए; इस दोहे में एक २ शब्द मणि की भांति देदीप्यमान हैं—

पलन प्रगटि बरुनीन बढि, नहिँ कपोल ठहरात ।

असुआँ परि छतिया छिनकु, छनछनाय छिपि जात ॥ (६५९)

(बिहारी इस टकसाली और साहित्यिक भाषा में अनुप्रास, यमक, आदि का चमत्कार दिखलाते हुए बोलचाल के ढंग का निर्वाह करते चलते हैं, जो कि दोहे की स्वाभाविकता में चार-चांद लगा देते हैं) । जैसे :—

लाज गहौ बेकाज कत घेर रहे, घर जाँहि ।

गोरस चाहत फिरत हौ, गोरस चाहत नाँहि ॥ (१२६)

भाषा सौष्ठव दृष्टि की से दोहा पूर्णतः स्वाभाविक एवं दर्शनीय है किन्तु 'गोरस' शब्द का प्रयोग चमत्कार उत्पन्न कर देता है । इसी प्रकार स्थान, काल और पात्र का भी बिहारी ने सर्वत्र ध्यान रक्खा है । नागरी के वर्णन को

देखिए :—

खेलन सिखए, अलि भलै चतुर अहेरी मार ।

काननचारी नैन-मृग, नागर नरन सिकार ॥ (४५)

इसी प्रकार ग्रामीण-नायिका के वर्णन में भी पूर्ण सफलता मिली है :—

पहुला-हार हियै लसै, सन की बेँदी भाल ।

राखति खेत खरे-खरे, खरे-उरोजनु बाल ॥ (२४८)

भाषा के सौन्दर्य को द्विगुणित करने के लिए बिहारी ने मुहावरों का भी प्रयोग किया है, मुहावरों का प्रयोग भाषा में चमक पैदा करता है, भाषा को प्रभावशाली बनाता है और भाषा की वक्रता में सहायक होता है जैसे—

जब जब वै सुधि कीजियै, तब तब सब सुधि जाहि ॥

आँखिन आँखि लगी रहै, आँखै लागति नाहि ॥ (६२)

बिहारी ने अनेकशः मुहावरों का प्रयोग किया है, उनके प्रयोग प्रायः सराहनीय हैं। बिहारी मुहावरों के बादशाह थे। यह राधाकृष्ण दास जी का कथन सर्वथा सत्य है। “हरा होना” इस मुहावरे का प्रयोग बिहारी ने जिस रूप में किया है, वह उन जैसे कवि के अनुरूप है—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।

जा तन की झाँई परै स्यामु हरित-दुति होइ ॥ (१)

तथा—

मूड़ चढ़ाएँऊ रहै परयौ पीठि कच-भार ॥

रहै गरें परि राखियै तऊ हियें पर हार ॥ (४५१)

इस दोहे में ही फारसी पद्धति के अनुरूप अनेक मुहावरों—‘मूड़ चढ़ाय’, ‘परयौ पीठि’, ‘गरें परि’ और ‘हिये परि’ का प्रयोग किया है।

(बिहारी लाल ने अपनी सतसई में सामाजिक पद्धति का भी प्रयोग किया है, यद्यपि ब्रजभाषा में सामाजिक पद्धति का प्रयोग प्रायः काव्य के सौन्दर्य का उत्कर्ष करने की अपेक्षा अपकर्ष ही करता है, किन्तु इस शैली के प्रयोग से अभिव्यजना शक्ति का विकास भी होता है। बिहारी ने सामाजिक पद्धति का प्रयोग विचार कर किया है, और उनका प्रयोग सफल ही है) इनकी इस समस्त शैली ने कहीं भी दुरुहता और नीरसता को जन्म नहीं दिया है, इस दोहे में बिहारी की दीर्घ सामाजिक पदावली का दर्शन कीलिए—

समरस-समर-सकोच-बस-बिबस न ठिक ठहराइ ॥

फिरि-फिरि उझकति, फिरि दुरति, दुरिदुरि उझकति आइ ॥ (५२७)

(रीतिकालीन ब्रज भाषा के अन्य कवियों की भांति बिहारी में भी पूरबी और बुन्देली भाषा का प्रभाव, व्याकरण का विप्रयोग, ग्राम्य शब्दों का प्रयोग आदि दोषों का अनुसंधान किया गया है। जो उचित ही है) उदाहरण के लिए कुछ दोषों का हम उल्लेख करेंगे।

(बिहारी की भाषा में सबसे अधिक बुन्देलखण्डी भाषा का प्रभाव देखा जा सकता है।) बिहारी के “स्यौ” शब्द का प्रयोग इसी प्रकार है। जिसका अर्थ ‘साथ’ या ‘सन्धि’ माना जाता है। इसी प्रकार देखबी, बीधे शब्द भी बुन्देलखण्डी के हैं। इसी प्रकार अवधी और पूर्वी के इहाँ, उहाँ का प्रयोग भी (ह्याँ, ह्वाँ का ब्रज में) किया है। बिहारी ने पूरबी भाषा का ‘लजियात’, ‘लीन’, ‘कीन’, ‘दीन’ आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है।

(बिहारी ने ब्रज भाषा की अपनी कविता में खड़ी बोली के कृदन्त और क्रिया रदों का भी प्रयोग किया है।) बिहारी ने शब्दों के लिङ्ग विपर्यय भी किए हैं एक ही शब्द पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग, दोनों ही कामों में प्रयुक्त मिलता है। उदाहरण के लिए ‘वायु’ शब्द संस्कृत में पुल्लिङ्ग, माना गया है किन्तु ब्रज और खड़ी बोली में वह स्त्रीलिङ्ग है। बिहारी ने वायु शब्द का क्रमशः स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग में प्रयोग किया है—

‘सुखद वायु गति मंद’ ॥ (३९२)

‘थकयो बटोही बाइ’ ॥ (३९०)

इसी प्रकार बिहारी ने संस्कृत “उच्छ्वास” का विकृत रूप “उसास” का प्रयोग भी दोनों लिङ्गों में किया है। बिहारी ने ‘रुख’ शब्द को सतसई में स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त किया है (२४३) जबकि फारसी और संस्कृत में यह शब्द पुल्लिङ्ग माना जाता है।

(बिहारी ने अपनी भाषा में इस प्रकार के यद्यपि कुछ प्रयोग अवश्य किये हैं, किन्तु उनकी संख्या कम ही है।) बिहारी ने ब्रज भाषा के अन्य कवियों की भांति शब्दों को तोड़ा मरोड़ा भी कम है, उनकी भाषा में तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव, अरबी फारसी के शब्द, और अति प्रचलित कुछ ग्राम्य शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। किन्तु उनका प्रत्येक शब्द सार्थक और उचित है, वह प्रायः दोष-रहित है।) बिहारीलाल की भाषा की आलोचना करते हुए मिश्र बन्धुओं ने उनके अनेक शब्दों की कटु आलोचना की है, उदाहरण के लिए डाढ़ी, अच्छ भयो, हरा-हर-हार, खयाल, संसो, समर, खील, संक्रोन, पनिहा, नीठि, नादि, बूढ़, चिलक, आदि शब्द लिए जा सकते हैं। यद्यपि ये शब्द अपने स्थान पर उपयुक्त हैं, बक्रता तथा लावण्य उत्पन्न करने में समर्थ हैं फिर भी अपनी दृष्टि से मिश्र बन्धुओं ने आलोचना की है। इनकी आलोचना को

ध्यान में रखकर परवर्ती आलोचना-सम्राट् शुक्ल जी ने लिखा है—

“जो यह भी नहीं जानते कि संक्रान्ति को संक्रमण (अव संक्रोन) भी कहते हैं, ‘अच्छ’ साफ के अर्थ में आगरे के आसपास बोला जाता है और कबीर, जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है; ‘सोनजाई’ शब्द स्वर्ण जाति से निकला है जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में ‘बारि’ और ‘बार’ दोनों शब्द हैं और ‘वार्द’ का अर्थ भी बादल है, ‘मिलान’ पड़ाव या मुकाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती ब्रजभाषा में ‘पिछानना’ रूप ही आता है, ‘खटकति’ का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?”^१ इसी प्रकार के विचार डा० श्याम सुन्दर दास ने भी व्यक्त किये हैं, वे लिखते हैं कि “उन्होंने शब्दों के साथ बलात्कार बहुत कम किया है। व्याकरण के नियमों का व्यक्तिक्रम उनकी रचनाओं में बहुत कम पाया जाता है। कहीं-कहीं पर जो उनके शब्द अजनबी से लगते हैं, वे इस कारण कि उनका प्रयोग बहुत कम होता है, जैसे बादल के अर्थ में ‘वार्द’ और साफ के लिए अच्छ। ये शब्द अव्यवहृत अवश्य हैं पर हैं शुद्ध संस्कृत के। जहाँ कहीं शब्दों को विकृत भी करना पड़ा है, वहाँ पर इन्होंने ऐसा तोड़-मरोड़ नहीं किया है कि शब्द का रूप ही कुछ का कुछ हो जाय और भावाभिव्यक्ति में अड़चन पड़ने लगे। उसके एक दो ही अन्वाद मिलते हैं, अधिक नहीं, जैसे स्मर के लिए ‘समर’ और साँस के लिए ‘संसो’। फार्सी अरबी के भी कई शब्दों का इन्होंने प्रयोग किया है जैसे विबिलनुमा, ताफता, सबीन, गनी इत्यादि। इनकी वाक्य रचना बहुत गठी हुई है। उसमें एक भी शब्द भरती का नहीं पाया जा सकता। प्रत्येक शब्द किसी विशेष अभिप्राय से व्यवहृत हुआ है।”^२

आशय यह है कि बिहारी की भाषा अप्रतिम है, भावानुकूल है, निर्दोष है, हिन्दी साहित्य को बिहारी की भाषा पर गौरव है, बिहारी का व्यक्तित्व ही वह व्यक्तित्व है जिसने ब्रजभाषा की गौरव-ध्वजा को स्थायी बनाया है। इसीलिए किसी ने ठीक ही लिखा है—

ब्रजभाषा बरनी सबै, बहु बिधि बुद्धि विशाल ।
मव की भूषन सतसई, रची बिहारी लाल ॥

११

बिहारी का अलंकार-विधान

संस्कृत साहित्य में अलंकारवादियों का प्राधान्य रहा है।^३ काव्य में अलंकारों

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० २५० ।

२—सतसई सप्तक की भूमिका पृ० ३१ ।

३—अलंकारा एवं काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।

के स्थान के विषय में भी मतभेद रहा है। (अलंकार काव्य के लिए आवश्यक माने गये हैं। काव्य की शोभा के मूलतत्त्व अलंकार ही हैं—काव्य शोभा करान् धर्मान् अलंकारान्।^१ काव्य अलंकारों के कारण ही ग्राह्य है। अलंकार काव्य का सौन्दर्य है^२ जयदेव तो अलंकार रहित काव्य को उष्णता रहित अग्नि ही मानते हैं।^३ भामह वनिता के मुख की शोभा अलंकारों से मानते हैं—न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।^४ अग्नि पुराण कार अलंकार रहित सरस्वती को विधवा ही कहते हैं। “अलंकार रहिता विधवेव सरस्वती।” किन्तु रसवादी आचार्य अलंकारों को हारादि की तरह बाह्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में अलंकार कभी-कभी सौन्दर्य का वर्धन करते हैं और अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म ही हैं।^५ आचार्य विश्वनाथ अलंकारों को काव्य में विद्यमान सौन्दर्य के उत्कर्षाधायक मानते हैं उत्कर्ष-हेतवः प्रोक्ता भुणालंकार.....। अलंकार काव्य शोभा को बढ़ाने वाले होते हैं। जैसे युवती के अन्दर सौन्दर्यादि गुणों के होने पर ही अलंकार उसकी शोभा की वृद्धि कर सकते हैं, वास्तविक शरीर-सौन्दर्य के न होने पर धारण किये हुए सुन्दर अलंकार व्यर्थ हो जाते हैं। वे उसके सौन्दर्य की वृद्धि नहीं कर सकते हैं; उसी प्रकार काव्य में ओज-प्रसादादि गुणों के न होने पर यमक और उपमा आदि अलंकार उसके शोभा वर्द्धक नहीं हो सकते हैं।^६ आशय यह है कि (अलंकार काव्य में विद्यमान गुणों को उत्कर्ष प्रदान करते हैं, काव्य में चमत्कार, विदग्धता और सौन्दर्य बढ़ाने में सहायक होते हैं। अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति स्वयं इस बात की सूचक है अलम् + कृ + घम्, इसका अर्थ है आभूषण। वैयाकरणों के अनुसार अलंकार की व्युत्पत्ति = “अलंकरोतीति अलंकार;” अर्थात् जो सुशोभित करता है वह अलंकार है। इसी को कर्मवाच्य में

१—दण्डी काव्यादर्श २।१

२—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—काव्यं ग्राह्यअलंकारात् । सौन्दर्यअलंकारः ।

३—जयदेव : चन्द्रालोक ५।१ : अंगीकरोतिय : काव्यं शब्दाथविनलंकृती असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ।

४—काव्यालंकार १।१३ ।

५—काव्याप्रकाश ८।६७ उपकुर्वत्तितं सन्त्येऽङ्गिद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥

६—काव्यालंकार सूत्र ३/१/२

युवतेखि रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्ध गुणं तदप्यतीव ।

विहित पुण्यं निरन्तराभिः सदलंकारः विकल्प कल्पनाभिः ।

यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्योबपुरिव यौवनमङ्गनायाः ।

अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।

इस प्रकार कहा जा सकता है—अलांक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः अर्थात् वह तत्त्व जिसके द्वारा शोभा होती है। अलंकार शब्द की एक व्याख्या डा० रामदत्त भारद्वाज ने भी की है। निसन्देह वह उचित की है। “जिसके कारण द्रष्टा या पाठक ‘अलं-अलं’ अर्थात् ‘बहु-बहु’ करने लगता है।” मन की यह अवस्था हर्षोल्लास के कारण होती है भामह के अनुसार शब्द और अर्थ की वक्रोक्ति ही वाणी का अलंकार है।^१ इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वाणी को उत्कर्ष प्रदान करने वाला तत्त्व अलंकार है।^२

हिन्दी साहित्य के मध्ययुगीन साहित्य में अलंकारों को विशेष महत्व प्राप्त हो गया था, केशवदास ने स्पष्ट रूप से कविता और वनिता के लिए अलंकारों को अनिवार्य माना था—

जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुवरन सरस सुवृत्त ।

भूषण बिनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ॥ कवि प्रिया ५।१

रीतिकाल के अन्य दरबारी कवि भी अलंकार-प्रिय थे। इसीलिये विद्वानों ने रीतिकाल को ‘अलंकृत काल’ के नाम से भी अभिहित करना चाहा है और रीतिकाल की अधिकांश प्रवृत्ति भी अलंकरण की है।

(“संस्कृत कवियों की भाँति हिन्दी के कवि केवल कविता ही नहीं करते थे, वे लक्षणों का निर्माण भी करते थे। ऐसी स्थिति में जितने अलंकार ग्रन्थों की सृष्टि हुई है उनके उदाहरण लक्षणों को सामने रखकर रचे गये हैं, जिससे उनमें काव्यत्व की अपेक्षा अलंकार प्रयोग की ओर विशेष आग्रह दिखलाई पड़ता है) ऐसी स्थिति में उनके अलंकृत एवं चमत्कार पूर्ण वर्णन की चर्चा करनी आवश्यक ही होगी, क्योंकि उनकी तो सृष्टि ही अलंकार प्रदर्शन के लिए हुई है किन्तु नखशिख और नायक-नायिका भेद के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए लिखी गयी कविताओं की भी मुख्य प्रवृत्ति अलंकरण की ही रही है। उन कविताओं में भी अलंकारों का ही सुन्दर प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की नवीन उद्धरणी प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति हिन्दी कवियों में जग उठी थी, उसके अनुसार नायक-नायिका भेद का लिखना भी आवश्यक समझा गया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं; किन्तु तत्कालीन दरबारी समाज की चमत्कारवादी प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन अलंकारों के सहारे उनमें भी हुआ है, यह निश्चित है।^२

रीतिवद्ध मुक्तक कारों की भाँति रीतिसिद्ध कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण

१ काव्यशास्त्र की रूपरेखा पृ० ७४।

२ डा० त्रिभुवनसिंह : महाकवि मतिराम, पृ० ७८।

का आग्रह तो नहीं किया है ; किन्तु उनकी रचनाओं से नायक-नायिका भेद तथा अलंकारों के सुन्दर उदाहरण सहज ही मिल जाते हैं। रीतिबद्ध रचना की सारी विशेषताओं पर उन्होंने सफलता प्राप्त कर ली थी, किन्तु लक्षण-ग्रन्थों के रूप में उसका उपयोग नहीं किया। ऐसे कवि लक्षण-ग्रन्थ लिखने वाले रीतिबद्ध कवियों की भांति रीति की शास्त्र-कथित बातों का पूरा पालन नहीं करते थे। शास्त्र कथित-सम्पादन मात्र इसका लक्ष्य नहीं था। कहीं तो चमत्कारातिशय के लिए उक्तियाँ बाँधते थे और कहीं रसाभिव्यक्ति के लिए रीतिशास्त्रों में गिनाई हुई सामग्री का त्याग करके अपने अनुभव और निरीक्षण से प्राप्त उपलब्धि, सामग्री या नूतनता का सन्निवेश करते थे।^१ आशय यह है कि (रीतिकाल के साहित्य में अलंकरण की प्रवृत्ति प्रमुख है। काव्य में चमत्कार, भावबोध, परिस्थितियों के वैचित्र्य का आभास, आदि कार्यों के लिए रीतिकालीन कवि अलंकारों का सहारा लेते थे। अलंकार शब्दालंकार और अर्थालंकार दो प्रकार के होते हैं। शब्दालंकार बाह्य चमत्कार विधायक होते हैं तथा अर्थालंकार काव्य के आन्तरिक भाव सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए उपयोगी होते हैं।) अग्नि पुराणकार अर्थालंकारों से रहित सरस्वती को विधवा मानते हैं—“अर्थालंकार रहिता विधवेव सरस्वती।” (बिहारी रीतियुगीन कवि हैं अपने युग की हवा से वे पूर्णतः प्रभावित हैं, इतना होते हुए भी बिहारी का अलंकार-विधान रसास्वादन के लिए ही है, केवल चमत्कारिक विधान के लिए नहीं। कुछ स्थलों पर अवश्य ही उन्होंने ऊहा और चमत्कार की प्रवृत्ति को अपनाया है। बिहारी ने शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही क्षेत्रों में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही औचित्य की सीमा में रहते हुए काव्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करते हैं।) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

“वस्तुतः शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही रस के उपयुक्त साधक भी बन सकते हैं और बाधक भी हो सकते हैं। परन्तु जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही शंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह एक प्रकार की असान्द्र-अनुभूतिजनक आवेग का कम्पन्न उत्पन्न करता है। न तो वह संगीत की अबाध गति उत्पन्न करता है। न अर्थ-जगत से सम्पूर्ण रूप से विच्छेद ही कर पाता है। उसके शब्द बराबर बाध्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध स्थापित करते रहते हैं स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते हैं। अर्थ-भार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों केवल घटिया प्रभाव ही उत्पन्न कर सकते हैं—.....रीतिकाल के कवियों में शब्दालंकार के प्रयोग बहुत हैं पर अधिकतर वे काव्य के घटिया प्रभाव को उत्पन्न कर रहे जाते हैं। अर्थ

की बाह्य सत्ता से उनका जितना सम्बन्ध होता है उतना रमणीयता उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त नहीं होता। (बिहारी ने अर्थ की रमणीयता का ध्यान बराबर रखा है। इसीलिये उनके शब्दालंकार रसोद्रेक में सहायक होकर आते हैं।)^१ बिहारी ने शब्दालंकारों में अनुप्रास, श्लेष, और यमक का प्रचुर प्रयोग किया है अनुप्रास के प्रयोग से कवि चमत्कार उत्पन्न करता है) उदाहरण के लिये—

रस सिँगार मंजन किये, कंजन-भंजन-दैन ।

अंजन-रंजन हूँ बिना, खंजन-गंजन नैन ॥ (४६)

यद्यपि इस दोहे में चमत्कार पर अधिक बल दिया गया है किन्तु रीतियुगीन पद्माकर आदि की अपेक्षा सानुनासिक व्यंजनों के प्रयोग से सौन्दर्य की वृद्धि हुई है एक अन्य उदाहरण लीजिये—

रनित-भृंग-घंटावली, झरित-दान मधुनीर । •

मंद मंद आवत चलयौ, कुंजर-कुंज-समीर ॥ (३८८)

प्रस्तुत दोहे में अपनी अनोखी मधुर शंकृति है जो पाठक को बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इस सम्बन्ध में 'बिहारी और उनका साहित्य' के लेखक द्वय लिखते हैं—“भाषा में जो नादात्मकता अथवा झंकार आ गई है वह घण्टाधारी हाथी की मन्द गति और कुंज-समीर की रुक-रुक कर लताओं के अन्तराल में से संगतिजनक निर्गति की पूरी-पूरी अनुभूति एक साथ कर देती है।^२ बिहारी के शब्दालंकार अर्थालंकारों के भावों को अधिक स्पष्ट करने में सहयोग देते हैं, कभी कभी चित्रोपमता को प्रस्तुत करते हैं, अनुभूति में सजीवता भी उत्पन्न करते हैं) उदाहरण के लिये—

“सटपटाति-सी ससिमुखी, मुख घूँघट-पटु ढांकि ।

पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥ (६४६)

“प्रथम पंक्ति का अनुप्रास ‘सटपटाने’ में निहित नायिका के ‘ब्रीडा’, ‘भय’, ‘औत्सुध्य’ आदि भावों का पूरा आभास देता है। दूसरी पंक्ति में पावक झर से दीप्ति आदि के अतिरिक्त, ‘चपलता’ की जो प्रतीति होती है, उसमें झमकने की स्थिरता आ गई है, साथ ही साथ ‘झमकना’ शब्द नायिका के आभूषणों की मधुर ध्वनि का आभास देता हुआ अनुभूति को और उदीप्त करता है, फिर झंकार का पूरा अनुप्रास आभूषणों को ध्वनि के अनुरणन की सूचना देता हुआ लौटती हुई नायिका की गति का अत्यन्त स्पष्ट चित्र देता है। नायिका की गति की प्रगति

१ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ३३१

१ बिहारी और उनका साहित्य, पृ० २८८,

उससे साफ साफ व्यंजित हो जाती है। और इन सबका समग्र रूप से अनुभव करता हुआ पाठक या श्रोता आत्म विस्मृत होकर रस में मग्न हो जाता है।”^१

(बिहारी ने श्लेष अलंकार का भी सुन्दर प्रयोग किया है। किन्तु उनका श्लेष अलंकार वहीं अधिक सफल होता है जबकि वह उपमा-गर्म अलंकार को पुष्ट करने के लिये किया जाता है अन्यथा कभी-कभी वह मात्र चमत्कार-सूचक होकर, रह जाता है) चमत्कार परक का एक उदाहरण—

अजौ तरयौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग ।

नाक-बास वेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग ॥ (२०)

इस दोहे में कवि तरयौना का वर्णन कर रहा है किन्तु तरयौना के सौन्दर्य अथवा गुणों का कहीं इसमें पता नहीं चलता। नायिका के सौन्दर्य का वह क्या उत्कर्ष करता है, सम्भवतः नहीं। कभी-कभी उनकी उपमा पूर्णतः अशक्त रूप में प्रस्तुत होती है। उदाहरण के लिये—

वृद्ध और वीर वधूटियों का सादृश्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की है—

कुढँग कोपु तजि रँगरलि, करति जुवति जग जोय ।

पावस बात न गूढ़ यहि, बूढ़न हूँ रँगु होय ॥ (४०४)

किन्तु बिहारी ने कभी-कभी श्लेष का बहुत ही सुन्दर प्रयोग किया है—
जैसे—

चिरजीवौ जोरी जुरे, क्यों न सनेह गँभीर ।

को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥ (६७७)

यह बिहारी का प्रसिद्ध दोहा है श्लेष का अपना सौन्दर्य है। यद्यपि किसी-किसी आलोचक ने “गाय बैल” के जोड़े में ग्राम्यत्व दोष माना है। (बिहारी बिहार) तो किसी ने सखी का परिहास मानकर इसे उत्कृष्ट दोहा माना (पद्म सिंह शर्मा)। रत्नाकर जी ने भी इसकी प्रशंसा की है।

(यमक अलंकार रसानुभूति में विशेष सहायक न होकर मात्र, चमत्कारकारक होता है। किन्तु बिहारी ने इस अलंकार का प्रचुर प्रयोग किया है) और बिहारी उसमें सफल भी हुये हैं। चमत्कार-परक एक-दो उदाहरण देखिये—

तो पर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान ।

तू मोहन के उरबसी, त्वैं उरबसी-समान ॥ (२५)

बर जीते सर मैं के, ऐसे देखे मैं न ।

हरिनी के नैनान तैं, हरि नीके ये नैन ॥ (६७)

प्रथम दोहे में कवि उरबसी के पीछे पड़ा हुआ है। जिसमें राधा के सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती है। इसी प्रकार दूसरे में भी प्रत्येक पद का अपना चमत्कार है।

(बिहारी ने मुद्रा-अलंकार का भी प्रयोग किया है। “कुवलयानन्दकार अप्पय दीक्षित के अनुसार इस अलंकार का लक्षण “मुख्यार्थ समन्वित शब्दों के द्वारा जब सूच्य कथा वस्तु की सूचना हो तो मुद्रा अलंकार होता है।” बिहारी ने एक दोहे में प्रौढ़ा खण्डिता की उक्ति में फूलों के नाम चमत्कार के साथ ग्रथित किये हैं—

कत लपटैयत मो गरें सो न जु ही निसि सैन ।

जिहिँ चंपक-बरनी किये गुललाला-रंग नैन ॥ (४९९)

इस दोहे की अलोचना करते हुये ‘बिहारी और उनका साहित्य’ के लेखक द्वय लिखते हैं कि “.....बिहारी ने जो फुलवारी लगायी है उसका उनकी खण्डिता और उसके भाव या उक्ति से क्या सम्बन्ध है, यह तो वे ही जानते होंगे अथवा वे टीकाकार जो इसमें और भी नये नये फूलों की कल्पना करके बिहारी के इस कारनामें पर दाद के साथ इनाम भी देते हैं.....बिहारी ने तो शायद मोगरे, सोनजुही, चम्पक और गुललाला की ही माला गुंथी थी परन्तु उनके टीकाकारों ने उसमें लपटइया=इश्क पेंजा, निसिसैन=कमल, बरनी=वर्णन तथा नैन=पञ्चनैन के फूल और खोज लिये हैं।”^१ निश्चित ही यहाँ पर कवि का ध्यान प्रेम पर न होकर पुष्प-प्रसङ्ग पर अधिक है। अतः यहाँ बिहारी विशुद्ध चमत्कारी बन गये हैं।

(बिहारी ने अर्थालंकारों का सफल प्रयोग किया है, वैसे कहीं-कहीं उनके अर्थालंकार भी संवेदना भावानुभूति और साम्य उपस्थित हीं कर सके हैं, फिर भी अर्थालंकार उनके सुन्दर बन पड़े हैं।

उपमा अलंकार का बिहारी ने प्रचुर प्रयोग किया है) उनकी उपमा का एक सुन्दर उदाहरण यह देखने योग्य है—

सटपटाति सी ससि मुखी, मुख घूँघट पट ढांकि ।

पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥ (६४६)

प्रस्तुत दोहे में कवि ने एक बिम्ब सा खड़ा कर दिया है। ‘झरोखे से नायिका का झाँककर झट चला जाना अग्नि की लपट सा मालूम पड़ा। इस अप्रस्तुत में रूप धर्म और प्रभाव तीनों का साम्य है। इसीलिये यह अत्यधिक उत्कृष्ट चित्र बन पड़ा है। पीताम्ब-नायिका के रूप लावण्य की एक झलक को उभाड़ने में

“पावक-झर” आन्तरिक रूप से समर्थ है। आग की लपट का धर्म है, पार्श्ववर्ती व्यक्ति को परितप्त कर देना। नायिका का झाँकना नायक को विरह-व्यथा से पूर्ण बना देता है। यह अप्रस्तुत नायिका की रूप चेतना को पाठकों के मन में अच्छी तरह उभाड़ ही नहीं देता बल्कि उन्हें भी रागानुभूत कर देता है। पीत-वर्णी नायिका और पावक-झर का साम्य प्रस्तुत करते समय कवि ‘रस समाहित चेतन’ कहा जा सकता है।^१ उपमा का एक अन्य उदाहरण भी है। इसमें जल-चादर का दीप और श्वेत साड़ी के भीतर से निकलती हुई नायिका के चंपई रंग की तन-ज्योति कितनी मार्मिक भावानुभूति प्रस्तुत करती है। कवि ने एक चित्र सामने खड़ा कर दिया है। उपमा में निसन्देह रमणीयता उपमा-जन्य-प्रभाव और मार्मिक अनुभूति विद्यमान है—

सहज सेत पंचतोरिया, पहिरत अति छवि होति ।

जल चादर के दीप लौं, जगमगाति तन जोति ॥ (३४०)

लेकिन कभी-कभी कवि ऐन्द्रिय-विम्ब प्रस्तुत करता है, कभी वर्णनात्मकता और कभी उनकी उपमा की संवेदना का प्रभाव भी रहता है। (रूपक अलंकारों में बिहारी ने काफी उछल-कूद और द्रविड़-प्राणायाम किया है)। उनके रूपक प्रायः असफल ही रहे हैं। एक उदाहरण स्पष्ट है—

कौड़ा आँसू बूँद, किस साँकर बरुनी सजल ।

कीने बदन निमूद, दृग-मलिंग डारे रहत ॥ (२३०)

नेत्र रूपी मलिंग (साधु) अश्रु बिन्दु रूपी कौड़ियों को धारण किये हैं तथा सरल बरोनियो रूपी मेखला धारण किये हुये हैं। तथा निरन्तर कुछ न कुछ बढ़-बड़ाने के कारण मुख खोले हुये हैं। इन अशक्त अप्रस्तुतों की जोड़-तोड़कर बिहारी ने कौन सा विशिष्ट भाव उत्पन्न किया। इसी प्रकार की खींचतान कर बिहारी ने रूपकों का ढाँचा खड़ा किया है। किन्तु यह बात सर्वदा नहीं रहती। कभी-कभी सुन्दर रूपक भी बिहारी सतसई में मिल जाते हैं। (उत्प्रेक्षा अलंकार संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में विशेष प्रिय रहा है)। “यह अलंकार रीति-कवियों का बड़ा ही लाड़ला अलंकार रहा है, क्योंकि इसके माध्यम से नायक-नायिका के रूपबोध की संभावना में उन्हें पर्याप्त छूट मिल जाती है। इसका अप्रस्तुत लोक-प्रसिद्ध होता है। लोक-सिद्ध होने पर वह उपमा के अन्तर्गत आ जायगा। लोक-असिद्ध होने के कारण कोई अप्रस्तुत चमत्कार हो जाय यह आवश्यक नहीं है उल्टे उसे पहेली-परक हो जाने का खतरा बढ़ जाता है।”^२ उदाहरण के लिये—

१ बिहारी का नया मूल्यांकन पृ० ८३

२ बिहारी का नया मूल्यांकन पृ० ८४

भाल-लाल बेंदी-दए, छुटे बार छवि देत ।

गह्यौ राहु, अति आहु करि, मनु ससि सूर समेत ॥ (३५५)

प्रस्तुत दोहे में राहु का सूर्य और चन्द्रमा को एक साथ ग्रस लेना लोक प्रसिद्ध है । लेकिन कवि जिसको उपस्थित करना चाहता है, उस उद्देश्य में उसे सफलता नहीं मिली है, क्योंकि नायिका का भाल, उसकी बिंदी और उन्मुक्त केशराशि का बिम्ब यहाँ अधिक स्पष्ट नहीं है । बिहारी ने कभी-कभी बहुत ही मार्मिक उत्प्रेक्षाएँ की हैं, उदाहरण लोक प्रसिद्ध उपमान का था कवि कल्पित उपमान का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

सोहत ओढ़े पीत पट, श्याम सलोने गात ।

मनौ नीलमणि सैल पर, आतप परयो प्रभात ॥ (६८९)

इस दोहे में नील मणि पर्वत कवि-कल्पित उपमान है । किन्तु पाठक की कल्पना के बाहर नहीं है । स्वतः सम्भवी अप्रस्तुत का उदाहरण—

(लसतु सेतसारी ढक्यो, तरल तरयौना कान ।

परयौ मनो सुरसरि-सलिल, रवि प्रतिबिम्ब बिहान ॥ (१०६)

गंगा के जल में प्रातःलाल की किरणों का प्रतिबिम्ब स्वतः सम्भवी उपमान है । इससे कवि ने एक बिम्ब प्रस्तुत कर दिया है । इसी प्रकार के लोकप्रसिद्ध उपमानों के आधार पर भी बिहारी में सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ मिलती हैं । उत्प्रेक्षा में वही कवि सफल हो सकता है, जिसकी अवेषण शक्ति तीव्र हो, बिहारी को इसमें पर्याप्त सफलता भी मिली है । बिहारी ने रूप वर्णन में प्रायः उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया है ।)

(सादृश्य-मूलक अलंकारों के अतिरिक्त बिहारी ने विरोध मूलक अलंकारों की योजना भी की है । विरोध मूलक अलंकारों में विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति, बिषम, व्याघात आदि अलंकार परिणित किये जाते हैं) । विरोधाभास में विरोध वास्तविक नहीं होता है । उसका केवल आभास ही होता है । उदाहरण के लिए—

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ ।

ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों त्यों उज्जल होइ ॥ (१२१)

विभावना में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन होता है । इस अलंकार में कारणान्वर की कल्पना भी की जाती है । उदाहरण के लिए—

मोहन-मूरति-श्याम की, अति अद्भुत गति जोइ ।

बसतु-सु चित अंतर तरु, प्रतिबिम्बित जग होइ ॥ (१६१)

अन्तर में रहते हुए बाह्य जगत का प्रतिबिम्बित करना ही विभावना है ।

विशेषोक्ति में कारण के रहने पर भी कार्य नहीं हो पाता है—

लाल तुम्हारे विरह की अगनि अनूप अपार ।

सरसे वरसै नीरहूँ, झरहुँ मिटे नझार ॥ (३९)

असंगति अलंकार का बिहारी का तो यह प्रसिद्ध दोहा है इस अलंकार में कार्य कारण का विरोध होता है कारण कहीं और कार्य कहीं—

दृग उरझत टूटत कुटुभ जुरत चतुर-चित प्रीति ।

परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति ॥ (३६३)

(वास्तव में बिहारी को इन वैधर्म्य-मूलक अलंकारों में पर्याप्त सफलता मिली है/इनमें) अस्वाभाविकता नहीं है परन्तु (भाषिकता है, चमत्कार है) किन्तु सहृदय संवेद्य है। इन अलंकारों को ही डा० बच्चन सिंह ने बिहारी का वास्तविक क्षेत्र माना है। उनका कथन है कि वास्तव में यही बिहारी का प्रकृत क्षेत्र भी माना जा सकता है। इन अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है भाव या रस का उपकारक होना। चमत्कारपूर्णता के साथ-साथ इनका “रसाक्षिप्त” होना भी आवश्यक है। इनमें वैदग्ध्या उस सीमा तक नहीं पहुँच पाया है। जहाँ संवेदनात्मकता से उसका साथ छूट जाता है। प्रत्येक अलंकार प्रत्येक संदर्भ में औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। उपमा और रूपक के प्रयोग में बिहारी को प्रायः सफलता नहीं मिल पाई है किन्तु (विरोधमूलक अलंकारों में उन्होंने पर्याप्त कुशलता का परिचय दिया है) —..... उपमा और रूपक का सम्बन्ध संवेदना की जिस गहराई से है वह बिहारी में नहीं है। इसलिए चमत्कार के चक्कर में फँसे रहने के कारण उनके प्रयोग में वे संवेदना से प्रायः असम्पृक्त हो गये हैं। विरोध-मूलक अलंकारों में उनको अपना स्वाभाविक क्षेत्र मिल गया।”^१

(बिहारी ने अर्थालंकारों का व्यापक क्षेत्र अपनाया है, उनकी सतसई में प्रसिद्ध अधिकांश अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है) अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकार—रूपक, अपुहनुति, संदेह, प्रतीप, दृष्टान्त, व्यतिरेक, उपमा, उत्प्रेक्षा, वैषम्य-मूलक, विरोधा-मास, विभावना विशेषोक्ति, शृङ्खला-मूलक कारण माला, एकावली, सार, माला-दीपक, न्यायमूलक परिसंख्या, सम्मुच्चय, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, आदि अलंकारों का प्रयोग बिहारी ने किया है। (रीति-ग्रन्थों में प्रतिपादित अधिकांश अलंकारों के उदाहरण बिहारी सतसई में प्राप्त हैं। बिहारी का अलंकारों पर पूर्ण अधिकार था। उन्हें सफलता भी पर्याप्त मिली है) हाँ कभी-कभी चमत्कार के चक्कर में उन्हें असफलता भी हाथ लगी है, फिर भी उनकी अलंकारों की दक्षता के विषय में उन्हें दाद देनी ही होगी। (पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने बिहारी के अलंकार सामर्थ्य पर विचार

करते हुए लिखा है—

“बिहारी अलंकार शास्त्र के प्रवीण थे । कहीं-कहीं अलंकार का ऐसा चमत्कार है जो लक्षण-ग्रन्थ लिखने वालों को नसीब नहीं । ऐसी निपुणता शास्त्र के अनुशीलन अभ्यास और सामर्थ्य का पता देती है । अलंकारों की सफाई बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिध कवि सिद्ध करती है ।”^१)

१२

चमत्कारवादी बिहारी

(हिन्दी साहित्य का रीतिकाल चमत्कार के लिए विशेष प्रसिद्ध है, इसीलिए अनेक विद्वानों ने इसे अलंकृतकाल भी कहा है ।) “रीतिकालीन कवियों ने जितने आग्रह के साथ रचनाशैली को अलंकृत करने का यत्न किया है उतना अन्य किसी भी काल के कवियों ने नहीं किया । जब भाव सीमित हो, उस समय जितने थे उन्हें ही जगमगाने में ये लग गए ।” अतः इस प्रवृत्ति के कारण यह काल अलंकृत काल है । इसी प्रकार रमाशंकर शुक्ल ‘रसाल’ इसे कला-काल का नाम प्रदान करते हैं, तथा शुक्लजी रीतिकाल कहते हैं । इन सभी नामकरणों के मूल में एक तथ्य स्पष्ट है कि/इस काल में अलंकरण और चमत्कार की ओर कवियों का विशेष ध्यान था । इस काल के अधिकांश कवि बौद्धिक चमत्कार और उक्ति की वक्रता से पाठक को अभिभूत और भावविभोर करना चाहते थे, उसी के माध्यम से काव्य में सरसता उत्पन्न करना चाहते थे, लक्षणा, व्यंजना आदि का सहारा लेकर कथन को अधिक प्रभावपूर्ण बनाना चाहते थे । उपर्युक्त समस्त तत्वों का प्रभाव बिहारी पर भी पड़ा है ।) बिहारी ने चमत्कार का सहारा लेकर रीतिकाल का वास्तविक प्रतिनिधित्व किया है । उनका अलंकार विधान, विरह और रू-सौन्दर्य का निरूपण सर्वथा चमत्काराश्रित है । इसके अतिरिक्त बिहारी का उक्ति चमत्कार अथवा वाग्वैदग्ध्य उनकी चमत्कारवादी भावना का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है । “रीतिकाल चमत्कारवादी युग है जिसमें उक्ति चमत्कार या वाग्वैदग्ध्यखुलकर खेला है । यह वक्रोक्ति का ही एक प्रकार है । बिहारी ने इस दिशा में बड़ी ऊँची छलांगें मारी हैं जिसे देखकर दांतों तले उंगली दाबनी पड़ती है ।”^२ बिहारी के चमत्कार का एक दोहा प्रस्तुत है, जहाँ बिहारी एक प्रौढ़ा-खंडिता की उक्ति में फूलों के नाम चमत्कार के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं—

१ बिहारी की वाग्विभूति पृ० १३१ ।

२ डा० गोपीनाथ तिवारी ‘साहित्य सरोवर’ पृ० १५० ।

कत लपटैयत मों गरे सो न जु ही निसि सैन ।

जिहि चंपक-बरनी किये गुल्लाला-रंग नैन)। (४९९)

“.....बिहारी ने जो फुलवारी लगाई है उसका उनकी खण्डिता और उसके ‘भाव या उक्ति’ से क्या सम्बन्ध है, यह तो वही जानते होंगे अथवा वे टीकाकार जो इसमें और भी नये-नये फूलों की कल्पना करके बिहारी के कारनामे पर दाद के साथ इनाम भी देते हैं बिहारी ने तो शायद मोगरे, सोनजुही चम्पक और गुल्लाला की ही माला गूथी थी परन्तु उनके टीकाकारों ने उसमें लपटइया=इष्कर्पेजा, निसिसैन=कमल, बरनी=वर्णा तथा नैन=पञ्चनैन के फूल और खोज लिये हैं। १/बिहारी प्रस्तुत दोहे में प्रेम और नायिका के भावों की अपेक्षा फूलों की सजावट में ही लगे हैं। अतः यहाँ बिहारी विशुद्ध चमत्कारी बन गये हैं।”

बिहारी के चमत्कार का दूसरा उदाहरण देखिये। कवि नायिका के रूप की प्रशंसा करते हुए कहता है कि—

सहज सेत पँचतोरिया, पहिरत अति छबि होति ।

जलचादर कै दीप लौं जगमगति तन जोति ॥ [३४०]

बिहारी की यह नायिका पांच तोले की श्वेत साड़ी पहने हुए है।, उससे नायिका के शरीर का सौन्दर्य द्विगुणित हो गया है वह ऐसा ही लगता जैसे कि जलचादर के पीछे दीपकों की शोभा हो। पांच तोले की साड़ी कहकर बिहारी अपना चमत्कार प्रदर्शित करने में पूर्णतः सफल हुए हैं। बिहारी का भाव यह है कि नायिका कोमलांगी है, अतः उसने पांच तोले की साड़ी धारण की है, पांच शब्द कामदेव के पंचबाणों की ओर भी संकेत करता है अर्थात् नायिका किसी के दिल को घायल करने में पूर्णतः समर्थ है। पांच तोले वाली साड़ी में यह भी व्यंजना निहित है कि साड़ी इतनी महीन है कि जलचादर दीपों के समान नायिका के अंग दृष्टिगत होते हैं।

(नायिका के शरीर को लेकर ही न जाने कितने चमत्कार बिहारी ने किये हैं, एक और उदाहरण लिजिए।

अंग-अंग नग जगमगत, दीपसिखासी देह ।

दिया बढ़ाए हूँ रहै, बड़ौ उजेरौ गेह ॥ (६९)

बिहारी का कहना है कि नायिका का शरीर ‘दीपसिखा’ के समान है

जिसके आभूषण भी बड़े चमत्कारपूर्ण हैं। इन आभूषणों के कारण घर में दिये के बढ़ा दिये जाने पर भी प्रकाश बना रहता है। संभवतः घर के स्वामी को न तो तेल खरीदना पड़ता होगा और न पड़ोसियों को ही पढ़ने-पढ़ाने के लिए प्रकाश आदि के लिए पैसे खर्च करने की आवश्यकता रहती होगी। इस तरह के अनेक दोहे बिहारी की सतसई में भरे पड़े हैं। निश्चित ही बिहारी आचार्य क्षेमेन्द्र की परिभाषा के अनुरूप सफल कवि सिद्ध होते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है कि “चमत्कार हीन कवि न तो कवि ही हो सकता है और न काव्य ही हो सकता है। काव्य में कितने ही सुन्दर वर्ण हों, चाहे उसमें दोष का एक भी अंश न हो किन्तु जब तक उसमें बहुमूल्य मणि के समान कोई चमत्कारोत्पादक शब्द नहीं होगा तब तक वह किसी के भी मन को उसी प्रकार आकर्षित न कर सकेगा जिस प्रकार अंगनाओं का यौवन लावण्यहीन होने पर किसी को भी आकृष्ट नहीं कर सकता।” १

डा० रामसागर त्रिपाठी ने क्षेमेन्द्र के अनुसार दश प्रकार के चमत्कारों के उदाहरण अपने शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. अविचारित रमणीय—

(लाल तुम्हारे विरह की, अग्नि अनूप अपार।

सरसै बरसै नीर हूँ, झरहूँ मिटे न झार ॥ (३९)

सखी नायक से कह रही है कि तुमने मेरी सखी को अद्वितीय वियोगाग्नि दी है, जो असीम है और कभी न समाप्त होने वाली है। भयंकर से भयंकर अग्नि वर्षा के जल से बुझ जाती है किन्तु यह आग नहीं बुझती। पानी बरसता है तो यह विरह ज्वाला और भी सरसती है, मानों घी पड़ रहा है। उस आग की लपटें पानी की झड़ी से भी नहीं मिटतीं) इस चमत्कार को पाठक सहज ही हृदयंगम कर लेता है।

२. विचार्यमाण रमणीय—

बालमु बारें सौति कै सुनि परनारि विहार।

भो रसु अनुरस रिस रली, रीझ खीझ इक वार ॥ (१८७)

भावशबलता का यह सुन्दर किन्तु चमत्कार पूर्ण उदाहरण है, किन्तु इसका चमत्कार गम्भीरता से विचारने पर ही स्पष्ट होता है। कवि कल्याण का चमत्कार देखिये—नायिका को अपनी सौत की पारी में यह समाचार मिला कि नायक ने परस्त्री विहार किया है, इससे सौत बहुत दुखी है। सौत को दुख मिला, इसलिए नायिका को रस की प्राप्ति होती है। स्वयं नायिका के पास नायक क्यों नहीं आया है इसलिए नायिका को रिस भी है, सौत पति को बस में नहीं रख सकती है अतः

(रली) प्रसन्नता भी है, मेरे ऊपर नायक अनुरक्त है अतः रीझ, किन्तु नायक की परनारी विहार की आदत पड़ती चली जा रही है इसलिए खीझ भी है क्योंकि सम्भव है मेरी (नायिका) वारी पर भी परदार गमन करें। यह है कवि का भाव शबलता वैभव तथा कल्पना वैचक्षण्य और चमत्कार।

३ सम्पूर्ण सूक्तिव्यापी—

इस प्रकार का चमत्कार सम्पूर्ण दोहे में विद्यमान रहता है जैसे—

भौहनु त्रासति, मुँह नटति, आंखिनु, सौँ लपटाति ।

ऐँचि छुड़ावति करु ईँची, आगैं आवति जाति ॥ (६८३)

इस दोहे के पूर्वार्ध में नायिका की चेष्टाओं का तथा उत्तरार्ध में हाव का चमत्कारपूर्ण वर्णन है।

४ सूक्त्येक देश दृश्य—

इस कोटि का चमत्कार दोहे के एक अंश में ही होता है। उदाहरणार्थ—

तो लखि मो मन जो लही, सो गति कही न जाति ।

ठोड़ी-गाड़ गड़्यौ तऊ, उड़्यौ रहै दिन राति ॥ (५५६)

इस दोहे के पूर्वार्ध में एक सामान्य बात है कि नायक नायिका की चिबुक देखकर आहत हो गया है, जिसका वर्णन करते नहीं बनता। किन्तु नायिका से वह कहता है कि मेरा मन तुम्हारे चिबुक रूयी गड़ढे में जाकर गड़ गया है तथापि रात-दिन उड़ता रहता है। अब वह ठिकाने पर नहीं रहा है।

५ शब्द चमत्कार—

(शब्दों के माध्यम से भाव विशेष को मूर्त रूप दिया जाता है। एक नायिका की उत्सुकता और संकोच का यह शब्द चित्र कितना मार्मिक एवं सटीक है—

पावक-झर सी झमकि कै, गई झरोखा झांकि । (६४६)

इस पंक्ति में 'पावक-झर' से 'दीप्ति' तथा 'चपलता' की प्रतीति होती है, 'झमकना' शब्द भी एक ठसक भरी स्थिरता को व्यक्त करता है, साथ ही झमकना शब्द नायिका ने आभूषणों की मधुर-झंकार का आभास देकर अनुभूति को अधिक उद्दीप्त करता है) इसके अतिरिक्त लौटने वाली नायिका की गति को भी वह व्यंजित करता है।

एक दूसरा भी उदाहरण है—

(सीस-मुकुट कटि काछनी, कर-मुरली उर माल ।

यह बानक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥ (३०१)

इस दोहे में बिहारीलाल शब्द का चमत्कार अनुपम है। बिहारीलाल एक

और तो कवि का नाम है, दूसरी ओर शृंगारपरक अर्थ में नायिका कहती है ये लाल ! लाल का अर्थ है प्रिय । दूसरा लाल का अर्थ लाल रत्न की भांति बहुमूल्य और तीसरा अर्थ है अनुराग से भरे । अतः हे लाल ! तुम बिहारी हो बिहार करने वाले हो, एक स्थान पर कभी रहते नहीं हो, बस इधर-उधर क्रीड़ा करते फिरते हो, सो अपना यह बिहारीपन छोड़ दो अन्यथा बदनामी हाथ लगेगी । और यदि अपनी आदत से मजबूर होकर बिहार करना ही चाहते हो तो मेरे मन में ही बिहार करो । तुम्हारे लिए यह स्थान सर्वथा उपयुक्त है । इससे अनेक लाभ होंगे : दूसरा कोई देख न सकेगा, तुम्हें सुख मिलेगा और निन्दा से भी बच जाओगे । सदा शब्द भी अपने स्थान पर सार्थक है । यह है बिहारी का शब्द चमत्कार । इस प्रकार सतसई में अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जो उनके चमत्कारवाद का समर्थन करते हैं ।

६ अर्थ चमत्कार—

कवि ने असंगति अलंकार के माध्यम से अपने अर्थ चमत्कार का सुन्दर प्रयोग किया है—

(दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।

परति गांठि दुरजन हिये, दर्ई नई यह रीति ॥ (३६३)

जब दो प्रेमियों का मिलन होता है, उस समय परिवार और समाज की क्या प्रतिक्रिया होती है, इसकी बहुत ही सुन्दर अभिव्यंजना इस दोहे में हुई है— परस्पर नेत्र उलझते हैं, परिणाम स्वरूप परिवारों से बिछोह होता है, एक ओर मन की डोर बंधती है, भलेमानसों को इससे प्रसन्नता होती है किन्तु दुर्जनों के मन में गांठ (ईर्ष्या द्वेष) पैदा होती है । यह विधाता की एक अनोखी रीति है ।)

७ शब्दार्थगत—

शब्द और अर्थ दोनों ही अपना चमत्कार दिखलाते हैं, उदाहरण के लिए इस दोहे में 'मदिरा और प्रेम का नशा अर्थ चमत्कारगत है तो दूसरी ओर अनुप्रास का चमत्कार भी दर्शनीय है—

डर न टरै नींद न परै, हरै न काल विपाकु ।

छिनुक छाकि उछकै न फिरि, खरौ विषमु छवि छाकु ॥ (३१८)

८ अलंकारगत चमत्कार—

विरोधाभास अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है । किसी मलीन वस्तु की कालिमा को धो-धाकर दूर नहीं किया जा सकता, इस विरोध को कवि श्लेष अलंकार के चमत्कार द्वारा अधिक मार्मिक बनाना चाहता है । उसे इसमें पूर्ण सफलता भी मिली है । श्लेष, परिकरांकुर एवं विरोधाभास का समन्वयात्मक चमत्कार है ।

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ ।

ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों त्यों उज्जलु होइ ॥ (१२१)

९ रसगत—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ ।

सौंह करै भौहनु हँसै, दैन कहै नटि जाइ ॥ (४७२)

इस दोहे में विभावानुभावों के साथ विशेष रूप से किल्किंचित हाव तथा विलास हाव का चमत्कार देखा जा सकता है। सम्पूर्ण सतसई इस प्रकार के दोहों से भरी पड़ी है। कहीं अनुभाव का चमत्कार है तो कहीं नायक-नायिका के उल्लास का।

१० प्रख्यात इतिवृत्त—

इसमें इति प्रसिद्ध घटना के आधार पर चमत्कार प्रस्तुत किया जाता है। बिहारी ने कामदेव, इन्दुकना और मस्तक पर बिन्दु आदि के प्रयोग से राहु-केतु की अवतारणा कर अनेक प्रख्यात-इतिवृत्तगत चमत्कार प्रस्तुत किये हैं।

आशय यह है कि (बिहारी सतसई कवि की चमत्कार प्रियता की अच्छी खासी अभिव्यक्ति है। लोकोक्ति, प्राचीन कथा, वक्रोक्ति, अलंकार तथा विरह वर्णन आदि के चमत्कारों से सतसई भरी पड़ी है। निस्सन्देह बिहारी प्रतिभाशाली कवि थे, उनके दोहे अधिकतर चमत्कारपूर्ण हैं)

प्रिय बिछुरन कौ दुसहु दुखु, हरषु जात प्यौसार ।

दुरजोधन लौं देखियति, तजत प्रान इहि बार ॥ (१५)

इसमें दुर्योधन को दिये गए शाप के अनुसार चमत्कार प्रस्तुत करने की कवि ने सफल चेष्टा की है।

१३

बिहारी का छंद विधान

(बिहारी रीतिकालीन कवियों में मुक्तक कविता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं, उनकी इस श्रेष्ठता के अनेक कारण हैं, उन कारणों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण उनका छन्द-चयन है। बिहारी ने दोहा नामक छन्द में अपनी सतसई का निर्माण किया है। दोहे में अनेक विशेषतायें होती हैं। दोहे की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए रहीम ने लिखा है कि—

रूप कथा पद चारु पट कंचन 'दोहा' लाल ।

ज्यों निरखत ही सूक्ष्म गति, मोल 'रहीम' बिसाल ॥

दीर्घ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहि ।

ज्यों रहीम नट कुण्डली सिमिट कूदि चलि जाहि ॥

इस दोहा छन्द की लोकप्रियता का दूसरा प्रमाण यह भी है कि इसका प्रयोग पुरातन है। अपभ्रंश के कवियों ने इसका प्रचुर प्रयोग किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दोहा छन्द पर विचार करते हुए लिखा है कि—

“यह अपभ्रंश का लाड़ला छन्द है। सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय साहित्य में इसका दर्शन होता है। प्रवेश तो इसका बहुत पहले ही हो चुका था, पर सातवीं आठवीं शताब्दी में इसने श्रंगार को, वीर को, धर्म को और नीति को लोकचित्त में प्रवेश कराने का व्रत लिया। धर्म के क्षेत्र में जो इन्दु और रामसिंह के मर्मी उपदेशों को इसने प्रचारित किया, सरह, कन्ह, तिल्लोपा आदि बौद्धसिद्धों की रहस्यवादी भावनाओं का वाहन बना, गोरखनाथ जैसे अलख जगाने वालों का सहायक हुआ और कबीर जैसे फक्कड़ का सन्देश वाहक बना। श्रृंगार के क्षेत्र में इसकी दुन्दुभी बहुत पहले बज चुकी थी। हेमचन्द्र ने व्याकरण, प्रबन्ध-चिन्तामणि सन्देश रासक और ढोलामारू के दोहों में इस छन्द की भाववाहन योग्यता अद्भुत रूप में प्रमाणित हो चुकी थी। ऐसे छन्द को तुलसीबाबा कब छोड़ने वाले थे। इसे पवित्र भक्ति की मन्दाकिनी में स्नान कराने का श्रेय उन्हीं को है^१।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी से पहले ही यह दोहा प्रत्येक क्षेत्र में भावों का वाहक बन चुका था, और भावों की प्रेषणीयता तथा कवि की कलापक्षगत सफलता के लिए भी यह छोटा सा छन्द बहुत ही अनुकूल रहा था। इसलिए बिहारी और दूसरे सतसई कारों ने अपनी ‘बहुज्ञता’ प्रदर्शन वाली कविता के लिए इसी छन्द का चयन किया, वे दोहे के प्रभाव से परिचित थे, उन्होंने देखा था कि धर्म के उपदेश रहस्यवादी डालियाँ, अट-पट बानियाँ, इस छन्द में सफलता के साथ लिखी जा सकती हैं और पूर्ववर्ती कवियों की एक विशाल परम्परा इसमें लिखती भी रही है। इसलिए बिहारी आदि समस्त सतसईकारों ने इस छन्द में अपनी कविता लिखकर पूर्ववर्ती कवियों की तुलना में सफलता भी पाई। ये कवि प्रदर्शन तो करना ही चाहते थे, इसमें जमकर प्रदर्शन किया, अपना चमत्कार दिखलाया दूसरों का भाव लिया दूसरों का छन्द लिया और अपना चमत्कार दिखला कर यह सिद्ध कर दिया कि हम श्रेष्ठ हैं।

बिहारी ने दोहा छन्द का चयन इसलिए भी किया, क्योंकि मुक्तक कविता की प्रमुख विशेषता उसकी प्रेषणीयता होती है यह प्रेषणीयता प्रबन्धकाव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य में अधिक प्रभावशाली होती है। मुक्तक काव्य के लिए अपने आकार के कारण दोहा सर्वाधिक अनुकूल छन्द होता है, क्योंकि कवित्त, सबैया

कुण्डली अथवा छप्पय आदि छन्द आकार में बड़े होते हैं। इनमें बड़े-बड़े भाव, सांस्कृतिक अभिविवेश तथा विश्लेषण अधिक होता है किन्तु मुक्तक काव्य में संक्षिप्तता होती है। इस संक्षिप्तता के लिए दोहा ही उचित छन्द था। सतसई की रचना के मूल में 'जयसिंह' की प्रेरणा है, वे भी एक दोहे पर रीझे थे, तथा दोहे पर ही अशर्फी देना चाहते थे। तीसरी बात सबसे बड़ी पूर्ववर्ती दोहे की लोकप्रियता है। तुलसी और रहीम ने भी अपनी सतसइयाँ दोहे छन्द में ही लिखी थीं।

(बिहारी सतसई का छन्दशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि उन्होंने अपनी सतसई में दोहा छन्द को अपनाया है। दोहा छन्द मात्रिक छन्द है, इसमें अड़तालीस मात्रायें होती हैं इनमें क्रमशः १३ और ११ पर यति होता है। दोहे के द्वितीय और चतुर्थ चरण में अन्त्यानुप्रास होता है यह अन्त्यानुप्रास एक दीर्घ तथा एक ह्रस्व मात्रा पर (ऽ') अपेक्षित होता है। छन्दशास्त्र में दोहा छन्द के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है। प्रायः समस्त भेद सतसई में मिलते हैं। रत्नाकर जी के अनुसार 'भ्रामर' और 'शरभ' नामक दोहों में बिहारी ने रचना नहीं की है। किन्तु डा० रणधीर सिन्हा ने रत्नाकर जी के इस कथन के साथ असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि "यह कहना समुचित नहीं जान पड़ता क्योंकि जिस कवि ने सभी प्रकार के दोहों को अपनी सतसई में स्थान देने का प्रयास किया है वह क्योंकि इन दोहों की रचना का विचार त्याग देगा।" १ प्रत्येक भेद की कसौटी पर सतसई दोहों की परख करने से बिहारी के दोहा निर्माण की क्षमता का अनुभव हो जाता है)। डा० सिन्हा ने अपने शोध प्रबन्ध में भ्रमर, भ्रामर, शरभ, श्येन, मंडूक, मर्कट, करभ, नर, मराल, मदकाल, पयोधर, चल, बानर, त्रिकल, कच्छ, मच्छ, शार्दूल, अहिबर, व्याघ्र, बिडाल, श्वान, उदर, सर्प, नामक दोहा छन्द के तेईस भेदों को सतसई में स्वीकार कर उनके उदाहरण भी दिये हैं। २

(निःसन्देह सतसई में कवि छन्दों की दृष्टि से पूर्णतः सफल है। उसने दोहा छन्द के आन्तरिक गुणों की ओर विशेष ध्यान दिया है। अतः उनकी सतसई में कल्पना की समाहार-शक्ति, मार्मिकता, सरसता, सार्थक भावों की सफल अभिव्यञ्जना आदि तत्वों का सहज अभिविवेश देखा जा सकता है। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही दृष्टियों से सतसईकार को इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता मिली है। प्रो० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' ने बिहारी-सतसई की भूमिका में लिखा है कि—

"बिहारी के दोहे छन्दशास्त्र के नियमों से कसे हुए हैं। उनके पूर्ववर्ती एवं पश्चाद्वर्ती कवियों के दोहों में ऐसा गठन और ऐसी कसावट प्रायः नहीं मिल पाती।

१ कविवर बिहारीलाल और उनका युग पृ० २०६

२ कविवर बिहारीलाल और उनका युग पृ० २०६ से २१३

कबीर, तुलसी, वृन्द, रसनिधि आदि अनेक कवियों के दोहों में न्यूनपदत्व तथा अधिकपदत्व दोष मिल सकता है किन्तु बिहारी के दोहों में ये दोष ढूढ़ने पर भी नहीं मिल सकते। अन्य कवियों के दोहों में गति एवं यति सम्बन्धी दोष पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं, पर बिहारी के दोहों में यह दोष भी नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है। बिहारी के दोहों की भाषा इतनी सशक्त, प्रांजल एवं अर्थगर्भा है कि वहां पर इन दोनों के लिए अवकाश नहीं मिलता।"१

निस्सन्देह बिहारी के दोहे भावपक्ष और कलापक्ष दोनों के ही सांमजस्य में पूर्णसफल हैं और शास्त्रीय दृष्टि से भी दोहा छन्द एक दो स्थलों को छोड़कर सर्वत्र सुनियोजित एवं सफल प्रयुक्त हैं।)

१४

बिहारी एवं शृंगार

शृंगार के मूल में रति (प्रेम) रहता है यह प्रवृत्ति मानव के अन्तस् को सर्वाधिक प्रभावित करती है, प्रेम मानव के मूल में रहता है, प्रेम के बिना सृष्टि का विकास अपूर्ण है। प्रेम ही वह तत्व है, जो जीवन को सर्वाधिक क्रियाशील बनाता है। साहित्य में प्रेम की परिपक्व अवस्था का नाम ही शृंगार, वात्सल्य अथवा भक्ति है।)

प्रस्तुत प्रसंग में हम केवल शृंगार रस पर ही विचार कर रहे हैं। प्रेम का क्षेत्र व्यापक है, उसकी सीमाओं में अन्तर की अधिकांश वृत्तियों का समावेश होता है। इस प्रेम के दो पक्ष हैं, एक सुखद दूसरा दुःखद। इन पक्षों के आधार पर शृंगार रस के भी दो भेद—संभोग शृंगार तथा विप्रलम्भ शृंगार नामक किये जाते हैं। प्रेम की सीमा व्यापक है उसके अनेक रूप होते हैं, वह विभिन्न आलम्बन एवं आश्रयों के आधार पर अनेक रूप धारण करता है। पति और पत्नी के बीच वह दाम्पत्य रति के रूप में प्रकट होता है। माता या गुरु जन एवं पुत्र या बालक के बीच वात्सल्य का रूप धारण करता है। समान योग्य पुरुषों के प्रति श्रद्धा हो जाता है और देवताओं के प्रति भक्ति कहलाता है। मित्रों के बीच स्नेह और दीनों या सेवकों के प्रति उदारता होती है।

(यह प्रेम केवल मानव जगत् तक ही सीमित नहीं है, इस मनोवृत्ति का प्रभाव जीव और जड़ जगत् में भी देखा जाता है। इस प्रेम की व्यापकता एवं

गम्भीरता के कारण ही प्रेम या रति नामक स्थायी भाव से उत्पन्न शृंगार रस को रसराय कहा जाता है।

(‘शृंगार रस को आचार्यों द्वारा ‘रसराय’ की उपाधि प्रदान की गई है। भरत मुनि का कथन है कि संसार में जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार के भीतर समाविष्ट हो सकता है।^१) ‘अग्नि पुराण’ में कहा गया है कि रतिमूलक शृंगार ही एक मात्र रस है तथा अन्य सभी रस उससे ही प्रसूत हुए हैं।— तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।^२ प्रकृतिवादी शृंगार को “आद्य रस” मानते हैं। हिन्दी के आचार्यों ने शृंगार की रसरायता का तन्मयता पूर्वक व्याख्यान किया है। केशव नवों रसों में शृंगार को नायक कहते हैं। मतिराम ने उसे स्पष्ट ‘रसराय’ कहा है तथा अपनी प्रसिद्ध शृंगारी रचना को ‘रसराय’ का ही नाम प्रदान किया है। सरदार कवि ने अपने ग्रन्थ ‘साहित्य सुधानिधि’ में शृंगार के रसरायत्व का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। वर्तमान काल में रामचन्द्र शुल्क ने रति एक मात्र शुद्ध स्थायी मानते हुए शृंगार की प्रधानता स्वीकार की है।^२

शृंगार रसराय है इसके रस राजत्व का प्रतिपादन संस्कृत और हिन्दी के नेक आचार्यों ने किया है, शृंगार को रसराय सिद्ध करने के लिये निम्न कारण तर्क) हैं :—

— शृंगार को व्यापकता—शृंगार का मूल भाव- रति अथवा काम, समस्त विश्व में प्राप्त है। क्या नर-नारी क्या पशु-पक्षी, क्या लता-नादयः सृष्टि के सकल जंगम गावर इस भाव से अनुप्राणित हैं। क्योंकि प्रजनन तथा स्ववंश रक्षण की निसर्गज प्रवृत्ति को, इस भाव से अनुमोदन एवं परिपोषण प्राप्त होता है। ‘वृहदारण्यक’ में तो पुरुष (भगवान) को ही काममय कहा गया है। आचार्यों के काम भाव की हृद्यता तथा सकल जाति सुनभता का उल्लेख किया है। रुद्रट ने कहा है कि शृंगार रस (आस्वाद्यमान काम भाव) आबाल वृद्ध सभी में व्याप्त है अतः इसकी रचना सम्यक् रूप से करनी चाहिये।

२ — उत्कट आस्वाद्यता — अन्य रसों की तुलना में शृंगार रस अधिक चर्वणीय है इसका स्थायी भाव रति मानव-हृदयस्थ ‘अहंकार’ अथवा ‘अस्मिता’ से उत्पन्न बताया गया है। अतएव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रति का चित्रण अन्य भावों की अपेक्षा, अधिक आस्वादित

१ “यत्किं चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वातच्छ गारेणोपमीयते।”
(नाट्य शास्त्र)

२—हिन्दी साहित्य कोष पृ-६८४ से उद्धृत

हो सकता है ।

३. अन्य रसों को समादृत करने की योग्यता :— वीभत्स, करुण, रौद्र, भयानक तथा शान्त रसों से शृंगार रस का विरोध बताया गया है । लेकिन आचार्यों ने विरोध परिहार की व्यवस्था की है । हिन्दी के आचार्य देव का यह कथन है कि शृंगार रस की छवछाया में सभी रस एकत्र दिखलाई पड़ सकते हैं । देव के निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य हैं—

निर्मल स्याम सिंगार हरि, देव अकास अनन्त ।

उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस, बिवस न पावत अन्त ।

भाव सहित सिंगार में नवरस भलक अजन्त ।

ज्यों कंकनमनि कनक को ताही में नवरत्न ।

भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल सिंगार ।

जो सम्पत्ति दम्पतिनु की जाको जग विस्तार । [भ.वि. १।१०]

४. सभी संचारियों एवं सात्विकों को आत्मसात् करने की सामर्थ्य— आचार्यों के अनुसार त्राम, आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा एवं मरण, शृंगार में निषिद्ध है । लेकिन, शृंगारी रचनाओं में इन त्याज्य व्याभिचारियों का सुन्दर एवं सफल प्रयोग मिलता है । वियोग की काम दशाओं में मरण या मृति गृहीत ही है । शृंगार में होने वाले स्तम्भ, रोमांच, स्वरभंग कम्प तथा निर्बलता का हेतु भय अथवा त्रास भी होता है । उसी प्रकार जृम्भा, आलस्यजनित ही है । विब्वोक हाव शृंगार में गृहीत है और इसमें उग्रता एवं जुगुप्सा, दानों पाये जाते हैं । प्रौढ़ा, अधीरा एवं मानिनी नायिकाओं में ये दोनों संचारी अनेक अवसरों पर उग्र रूप धारण करते दीखते हैं । इस तरह सभी संचारी शृंगार में प्रविष्ट होते हैं, जब कि अन्य रसों के संचारियों की संख्या परिमित है । सात्विक भावों का पूर्ण सामंजस्य तथा 'हाव' नामक कुछ अन्य दशाएँ भी शृंगार में ही घटती हैं । इन्हीं विशेषताओं के कारण भोजराज ने "शृंगार प्रकाश" में कहा है कि रति आदि उनचास भाव शृंगार को घेरकर उसे वैसे ही समृद्ध करते हैं, जैसे किरणें सूर्य को घेरकर उसकी दीप्ति को उद्दीप्त करती हैं ।

५. विभावों की विशेषता— शृंगार के आलम्बन नायक-नायिका हैं जिनके साथ पाठक या श्रोता पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं । अन्य रसों के आलम्बनों में यह विशेषता नहीं होती । शृंगार के उद्दीपन विभाव भी अन्य रसों की तुलना में अधिक व्यापक, रमणीय एवं हृदयावर्जक हैं । जैसा सरदार कवि का कथन है अन्य रसों के उद्दीपन मानुषी एवं

देवी (प्राकृतिक, यथा ऋतु-रमणीयता इत्यादि) दोनों है। शृंगार के उद्दीपन सर्वत्र तथा बारहों मास सुलभ हैं, जबकि अन्य रसों में ऐसी बात नहीं है। संयोग एवं विप्रलम्भ के समान भेद भी अन्य रसों में नहीं होते। अतएव मानव-हृदय की जितनी अधिक वृत्तियों के चित्रण का अवसर इस रस में उपलब्ध है, वह अन्यत्र सम्भव नहीं है। भोजराज ने ठीक ही कहा है—

शृंगारी चेतकविः काव्ये जातं रस मयं जगत् ।

स एव चेद शृंगारी नीरसं सर्वमेव तत् । [स.क.पृ: ३]^१

१५

बिहारी की प्रेमभावना

(महाकवि बिहारी प्रधानतः शृंगार रस के कवि है, शृंगार में प्रेम और सौन्दर्य दो मूल तत्व हैं, इन दो तत्वों के आधार पर ही शृंगार रस का परिपाक होता है। अतः बिहारी ने अपनी सतसई में प्रेम-विषयक अपनी मान्यताओं का भी स्पष्टीकरण किया है) उनकी मान्यतायें निस्संदेह महान हैं, उनका प्रेमादर्श गम्भीर एवं व्यापक है, वे प्रेम के महत्व से परिचित हैं। वे प्रेम को सात्विक भाव मानते हुए कहते हैं कि प्रेम एक गम्भीर तत्व है, पर्वत के समान महान् हृदय वाले व्यक्ति भी उसमें डूब जाते हैं और डूबकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं, उसमें अरसिक छली प्रपंची व्यक्तियों के लिये स्थान नहीं होता है—

गिरि ते ऊंचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार ।

वहै सदा पसु नरन कौं, प्रेम पयोधि पगार ॥ (२५१)

(यदि आप जीवन में प्रेम की सफलता चाहते हैं, उसे फलता और फूलता देखना चाहते हैं, तो स्वार्थ को निकट न आने दीजिये। स्नेह से रसमग्न हृदय में स्वार्थ के आते ही प्रेम समाप्त होता है—)

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ।

रजरजस न छुआइये, नेह चीकने चित्त ॥ (३९७)

(सज्जन व्याक्त के प्रेम का वर्णन करते हुए बिहारी ने लिखा है कि सज्जनों का स्नेह गम्भीर होता है, वह घटने की अपेक्षा निरन्तर बढ़ता ही रहता है, जैसे मंजीठ के रंग में रंगा हुआ कपड़ा फट भले ही जाये, पर उसका रंग फीका नहीं पड़ता—)

चटक न छाड़त घटत हू, सज्जन नेह गम्भीर ।

फीको परै न बरू फटै, रंग्यो चोल रंग चीर ॥ (६६८)

कालिदास के प्रेम के^१ समान ही बिहारी का प्रेम विरह में भी निरन्तर बढ़ने वाला ही है, विरह की लपट से स्नेह-लता जरा भी कुम्हलाती नहीं है, अपितु निरन्तर परिवर्द्धित होती है—

नैक न झुरसी विरह-झर नेह-लता कुम्हिलात । ✓

नित नित होति हरी हरी खरी झालरति जात ॥ (९८)

(बिहारी प्रेम के सम्बन्ध में इसी धारणा को शब्दान्तर से कहते हैं कि प्रेम एक महान् वस्तु है, दिव्य है, वह तो प्रेमी के साथ संकटों में भी स्वर्गोपम है, प्रिय के साथ नरक की धडक भी कुछ नहीं है—

जो लहिये संग सजन तो, धरक नरक हू कीन । ✓ (७५)

(प्रियतम के बिछुड़ने पर भी वास्तविक प्रेम कम नहीं होता है, प्रियतम दूर रहते हुए भी पास रहता है—

कहा भयौ जौ बीछुरे, मो मन तो मन साथ ।

उड़ी जाउ कित हूँ, तऊ गुड़ी उड़ाइक-हाथ ॥ (५७)

(बिहारी प्रेम के क्षेत्र में चातक के प्रेम को आदर्श मानते हैं, चातक चन्द्रमा की किरणों को ही ग्रहण करता है, चन्द्रमा के वियोग में अग्निकण ही चुनता है, अन्य शीतल पदार्थ नहीं—)

चितु दै देखि चकोर-त्यों तीजै भजै न भूख । ✓

चिनगी चुगै अंगार की, चुगै कि चंद मयूख ॥ (५४७)

(बिहारी के प्रेम में, यदि प्रेमी और प्रेमिका एक मन हैं, तो उस प्रेम के क्षेत्र में संसार की बाधाएँ नगण्य हो जाती हैं, संसार का कोई भी ऐसा तत्व नहीं है जो उन्हें दूर कर सके—)

उनकौ हित उनही बनै, कोऊ करौ अनेकु ।

फिरतु काकगोलकु भयौ, दुहूँ देह ज्यौ एकु ॥ (४४७)

(प्रेम की सफलता एक होने में है, एकता प्रेम के चरमोत्कर्ष की सीमा है—)

१ स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्तेतवं भोगा—

दिष्टे वस्तून्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति ॥

पिय कैं ध्यान गही गही रही वही हूँ नारि ।

आपु आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि ॥ (५८३)

बिहारी के प्रेम-संसार में ऐन्द्रियता नहीं है, वह क्षण-क्षण परिवर्तमान नहीं होता, वह अन्तर में ही रहता है—

(१) सबही त्यों समुहाति छन, चलति सबन दै पीठि ।

~~सबही~~ वाही त्यों ठहराति यह, कविलनवी लौ दीठि ॥ (३०)

किन्तु बिहारी के प्रेम की एक विशेषता यह भी है कि उनका प्रेम सौन्दर्य से आकर्षित होता है । बिहारी ने प्रेम में रूप-सौन्दर्य को महत्व दिया है । बिहारी का प्रेम शारीरिक सौन्दर्य से क्रमशः बढ़ता हुआ अन्तरंग बन जाता है । फिर बाह्य रूप पीछे छूट जाता है और प्रेमी और प्रिय दो ही रह जाते हैं, तब प्रेमी की तुच्छ से तुच्छ वस्तु उसके प्रेम का आधार बन जाती है । इस प्रकार के दोहे बिहारी की सतसई में अनेक हैं । इसके अतिरिक्त एक बात विशेष ध्यान देने की है कि बिहारी सौन्दर्य के उपासक हैं, उनके प्रेम का प्रेस्क तत्व भी सौन्दर्य है, वह सौन्दर्य अपनी-अपनी रुचि का सौन्दर्य है, किन्तु सौन्दर्य की सफलता भी कालिदास के समान ही “प्रियेषु सौभाग्यफला ही चारुता” बिहारी प्रेम में मानते हैं, यदि सौन्दर्य की परिणति प्रेम में नहीं होती, अथवा किसी का सौन्दर्य अपने प्रिय को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका, अपने सौन्दर्य-जाल में प्रिय को न बाँध सका, वह निष्फल प्रेम होता है, ऐसे सौन्दर्य बिहारी पसन्द नहीं करते, बिहारी के सौन्दर्य की सफलता प्रेम में है—

यद्यपि सुन्दर सुघर पुनि सगुनौ दीपक देह ।

तऊ प्रकासु करै, तितौ भरियै जिते सनेह ॥

अर्थात् जिस प्रकार सुन्दर, सुगठित तथा बत्ती से युक्त दीपक उतना ही प्रकाश देता है जितना उसमें स्नेह-तेल होता है, उसी प्रकार सुन्दर व्यक्ति भी अपने सौन्दर्य के अनुरूप प्रेम धारण करता है ।

बिहारी प्रेम को चौगान के खेल के समान मानते हैं, जिस प्रकार चौगान खेल में स्वस्थ एवं सुशिक्षित घोड़े पर सवार अपनी अनेक दौड़ लगाता है, गेंद को छिपाकर अपने उद्देश्य (गोल) तक ले जाता है, उसी प्रकार प्रेम को सफल बनाने के लिये भी सहृदय हृदय के अनेक भावों को गुप्त रखकर ही सफल हो सकता है—

सरस सुमिल चित तुरंग की करि करि अमित उठान ।

गोइ निबाहैं जीतिये खलि प्रेम — चौगान ॥ (१७८)

यह है बिहारी का प्रेमादर्श । कभी-कभी बिहारी प्रेम की गम्भीर मान्यताओं

का उद्घाटन करते हैं और कभी रीतिकालीन सामंती घरातल पर खड़े होकर दांव-पेंच, लुका-छिपी की आवश्यकता अनुभव करते हैं, इस प्रकार के स्थलों पर रीतिकाल की सामाजिकता उन्हें बार-बार सोचने के लिए बाध्य करती है और वे तदनुरूप अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। डा० बच्चन सिंह ने बिहारी के इस प्रेम की आलोचना करते हुये लिखा है "सचमुच में बिहारी का मन इस खेल में खूब रमा है। इसमें अनेक प्रकार के दांव-पेंच, लुका-छिपी की जरूरत पड़ती है। इस चौगान को जीतने के लिए अमिट अभ्यास की आवश्यकता होती है जिसमें रीतिकाव्य के नायकों को काफी कमाल हासिल है। रीतिकाव्यों के नायक अनेक प्रकार के सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण खुदकर प्रेम नहीं कर सकते थे। उनके प्रेम में वह आवेग नहीं था जो इन प्रतिबन्धों को अपनी प्रखर धारा में बहा ले जाता। खेल में तो सोच समझ कर फूंक-फूंककर कदम रखना होगा, जिससे अन्य लोगों से छिपकर अपने कार्य में सफलता प्राप्त की जा सके। चौगान खेल को रीति कवियों के प्रेम का प्रतीक माना जा सकता है।"^१ निस्संदेह बिहारी रीतिकालीन हैं, नायक-नायिकाओं की आँख-मिचौली का उन्होंने वर्णन किया है, किन्तु क्या डा० बच्चनसिंह अपने समाज की मर्यादा तुड़वाकर समस्त समाज को पाश्चात्य देशों की भांति स्वच्छन्द प्रेम का उपासक बना देना चाहते हैं, जो सामाजिक मान-मर्यादा को ध्वंस में मिलाकर प्रतिवर्ष अनेकों भूणहत्याओं को प्रश्रय देते हैं। यदि ऐसा है तब तो निश्चित ही बिहारी आलोच्य हैं, अन्यथा बिहारी ने प्रेम को गोप्य बताकर भारतीय समाज एवं उसके आदर्शों का यथार्थ अंकन किया है।

(बिहारी ने अनेक स्थलों पर गम्भीर प्रेम की अधिकता की है) उन स्थलों को डा० बच्चनसिंह ने केवल "परम्परा का ही आग्रह समझने" का आग्रह किया है उन्हें "बिहारी की मान्यतायें" स्वीकार नहीं किया है। ऐसा क्यों? क्या बिहारी जैसा महाकवि प्रेम गम्भीरता से परिचित नहीं था; ठीक है सम्पूर्ण काव्य नायक-नायिकाओं का खेल है, युग की भावनाओं का प्रतिबिम्ब है, फिर भी महाकवि के अपने विचार यो व्यक्त हो ही सकते हैं। बिहारी को यदि समाज अथवा किसी आलोचक का भय होता, तो सम्पूर्ण सतसई ही न लिखी जाती वे केवल कुछ दोहों में गम्भीर प्रेम को अभिव्यक्त प्रदान नहीं करते। निस्संदेह बिहारी ने अपने युग का, सामंती वातावरण और प्रेम का ईमानदारी से अंकन किया है, वे निर्वन्द होकर उस युग का यथार्थ अंकन करते हैं और उस युग के क्रीड़ा-परक प्रेम का भी। किन्तु वे प्रेम के आदर्शों से भी पूर्णतः परिचित थे।

(बिहारी के काव्य में प्रेम का आधार शारीरिक सौन्दर्य है। इस दृष्टि में बिहारी के सौन्दर्य का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है। बिहारी ने सौन्दर्य को अनेक रूपों में अभिव्यक्ति प्रदान की है। बिहारी के सौन्दर्य के विभिन्न रूपों पर विचार करने से पूर्व उनकी सौन्दर्य विषयक मान्यता का विचार भी अपेक्षित है।)

(सौन्दर्य को परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है। सौन्दर्य एक सापेक्ष तत्व है, क्योंकि एक व्यक्ति की दृष्टि में जो सुन्दर है, दूसरे की दृष्टि में भी वह सुन्दर हो यह आवश्यक नहीं है। अतः सौन्दर्य व्यक्ति सापेक्ष है, अतः उसकी परिभाषायें भी अनेक हो सकती हैं। निश्चित ही सौन्दर्य “भिन्न रुचिर्हि लोक” के अनुसार व्यक्ति की रुचि पर निर्भर करता है, इस बात को बिहारी ने भी स्वीकार किया है—

समै-समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय ।

मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय ॥ (४३२)

किन्तु बिहारी केवल इसी दृष्टिकोण के समर्थक हैं, यह कहना बिहारी के साथ अन्याय होगा, क्योंकि बिहारी ने जो सुन्दर है उसके महत्व को भी स्वीकार किया है। बिहारी के मत में भी सौन्दर्य छिपाने योग्य वस्तु नहीं है, जो सुन्दर होगा, वह अपनी ओर सहृदय-रसिक का ध्यान आकृष्ट कर लेगा। शीतलता और सुगन्ध की महिमा घट नहीं सकती—

शीतलतारु सुगन्ध की महिमा घटी न मूर ।

पीनस बारें ज्यों तज्यों सोरा जानि कपूर ॥ (५९)

निश्चित ही जो सुन्दर होगा, वह छिप नहीं सकता, उस पर सभी आकृष्ट होंगे। बिहारी ने इस मत को स्वीकार करते हुए सौन्दर्य को विषयगत भी स्वीकार किया—

बाल छबीली तियन में बैठी आपु छिपाइ ।

अरगट हूँ पानूस सी, परगट परै लखाइ ॥ (६०३)

और इस छिपी हुई बाला तक सौन्दर्य की खोज करने वाली बिहारी की दृष्टि पहुंच ही जाती है। पहुंचती भी क्यों न—

हौं रीझी लखि रीझिहौ, छबिहिँ छबीले लाल ।

सोनजुही सी होती दुति मिलत मालती माल ॥ (८)

इस प्रकार बिहारी ने सौन्दर्य सम्बन्धी दोनों प्रकार की विषयीगत एवं विषयगत मान्यताओं को स्वीकार किया है। किन्तु बिहारी का अपना मत क्या है? इस सम्बन्ध में हमारा यही मत है कि बिहारी इस सम्बन्ध में समन्वयवादी हैं, वे लिखते हैं—

मोहि भरोसो रीझि है, ऊझकि झाँकि इकवार ।

रूप रिझावन हार है, ये नैना रिझवार ॥ (६८२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्य के सम्बन्ध में बिहारी का दृष्टिकोण समवन्धवादी है लेकिन बिहारी सौन्दर्य को परिभाषा की सीमाओं से ऊपर मानते हैं, उनके मत में सौन्दर्य लेखनीबद्ध नहीं किया जा सकता है—

लिखन बैठी जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर ।

भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥ (३४७)

१६

बिहारी का सौन्दर्य वर्णन.

(बिहारी की सतसई शृंगार रस की अमूल्य निधि है, मानव मन की प्रेम-वृत्ति को रमण करने का खुला अवसर इस रचना में मिलता है। बिहारी ने अपने शृंगार रस में नायक की अपेक्षा नायिका को अधिक महत्व दिया है। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया, उसकी प्रेम-क्रीड़ाएँ, उसकी अदाएँ, मुद्राएँ, चेष्टाएँ, उसका सौन्दर्य, उसका नख-शिख एवं उसके आभूषण आदि का बिहारी ने जमकर वर्णन किया है (बिहारी ने सौन्दर्य के अङ्कन के विषय में रीतिकालीन और पूर्वपरम्परागत समस्त शैलियों को अपनाया है। बिहारी ने नख-शिख वर्णन से लेकर प्रभावात्मक, आलंकारिक और घरेलू वातावरण तक के चित्र खींचे हैं। उनके वर्णन अधिकतर परम्परागत हैं, किन्तु बिहारी ने सौन्दर्य के व्यापक रूप का भी आलोकन किया है। उनका सौन्दर्य प्रभावकारी और अनिर्वचनीय भी है) सौन्दर्य की व्यञ्जना में बिहारी को कमाल हासिल है। उपर्युक्त तत्वों को हम वैज्ञानिक रूप से दो वर्गों में विभक्त कर इस प्रकार देख सकते हैं—१. नायिका के सौन्दर्य का चित्रण और २. नायिका भेद और उसकी विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण। नायिका-सौन्दर्य के चित्रण के चार अन्य भेद किये जा सकते हैं—१. नख-शिख वर्णन २. चेष्टाओं का निरूपण ३. मुद्राओं का अंकन और ४. सम्पूर्ण नख-शिख वर्णन—

बिहारी का युग रीतियुग है। इस युग में रीति परम्परा का प्रचुर प्रचार हो चुका था। संस्कृत के अनेक ग्रन्थों में नख-शिख वर्णन की रूपरेखा प्रस्तुत हो चुकी थी। हिन्दी एवं संस्कृत के इन कवियों में कालिदास, दण्डी, बाणभट्ट, जयदेव, विद्यापति और जायसी ने नख-शिख का व्यापक चित्रण किया था (बिहारी ने पूर्ववर्ती समस्त कवियों की सामग्री का उपयोग करते हुए शरीर के समस्त अङ्गों का मार्मिक चित्रण किया है। शृंगार रस में नेत्रों का अधिक महत्व है। प्रेम की

सफलता में नेत्र बहुत बड़े साधक हैं)। बिहारी से पूर्व सूर ने भी नेत्रों पर कलम चलाई थी। बिहारी ने कई प्रकार से नेत्र वर्णन किया है :—दृष्टि संचार का, नेत्रों की हृदय-बेधकता का, उनकी चंचलता का, उनकी विशालता आदि अस्मि का। कहीं निपरुण मात्र है और कहीं रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष आदि से अलंकृत, कहीं कहीं भेदकातिशयोक्ति के रूप में पाठक के ही सिर अनुभूति की कल्पना लदी रहती है।^१ नेत्रों के अतिरिक्त मुख, चितवन, चिबुक, अलक, स्तन, कटि, नितम्ब, एड़ी, पैरों की सुकुमारता, बदन की लालिमा, हाथ की अंगुलियाँ, नख शोभा आदि पर भी बिहारी ने दोहे लिखे हैं। बिहारी ने इस अंगों के अतिरिक्त शारारिक गुणों एवं सौन्दर्य के प्रसाधन में हँदी, काजल, बेंदी आदि, वस्त्रों में साड़ी, चूनरी, अंगिया, आभूषण बेसर, टीका, नथ, वरयौना, हार, बिछिया आदि पर अनेक दोहे लिखे हैं। समस्त दोहे युगीन भावना, नख शिख वर्णन की परिपाटी आदि की सीमाओं में लिखे गये हैं। इन दोहों से तत्कालीन सौन्दर्य के संबंध में मान्यताओं का सहज स्पष्टीकरण होता है। “बिहारी ने नायिका के विभिन्न अंगों का वर्णन तत्कालीन युग की नख-शिख-परिपाटी के अनुसार योजनाबद्ध ढंग से किया था।”^२

बिहारी के नखशिख वर्णन की कुछ अपनी मान्यतायें तथा विशेषतायें हैं। बिहारी नायिका के सौन्दर्य को उत्कृष्ट, प्रभावशाली तथा मार्मिक सिद्ध करने के लिए बाह्य प्रसाधन, महावर अंगराग तथा विभिन्न लेपों की हीनता सिद्ध करते हैं।

• पाइ महावर दैन कौ नाइनि बैठी आइ ।

फिरि फिरि, जानि महावरी, एड़ी मीड़ति जाय ॥ (३५)

करतु मलिन आछी छविहि, हरतु जु सहजु बिकासु ।

अंगरागु अंगनु लगै, ज्यों आरसी उसासु ॥ (३३४)

ये समस्त उपकरण नायिका के विभिन्न अंगों के समक्ष नगण्य से रह जाते हैं। बिहारी सौन्दर्य के संहारक रूप का चित्रण करते हैं। संभवतः यह रूप फारसी साहित्य से प्रभावित हो, किन्तु बिहारी को यह परम्परा जायसी आदि से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी जो दृष्टा के मन को बांधकर चिबुक के गढ़े में डाल देता है।

डारे ठोड़ी-गाड़ गहि नैन-बटोही, मारि ।

चिलक-चौंध में रूप-ठग, हांसी-फांसी डारि ॥ (१७)

नायिका के नेत्र शिकारी हैं किन्तु नासिका भी पीछे नहीं है, वह तो बरबस घायल

१ पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : बिहारी की वाग्विभूति पृ० १०४

२ डा० गणपतिचन्द्र गुप्त : हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी पृ० ३०७

कर देती है :—

वेधक अनियारे नयन, वेधत करि न, निषेधु ।

बरबट वेधतु मो हियौ तो नासा को वेधु ॥ (२७)

बिहारी के आभूषण भी पीछे नहीं रहते, वे भी यथावसर अपनी चकाचौंध आदि से चोट कर ही जाते हैं । बिहारी का सौन्दर्य वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है, जो कि कभी-कभी अस्वाभाविकता की ओर भी बढ़ जाता है इस सम्बन्ध में शुक्लजी ने लिखा है कि बिहारी की “वस्तुव्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है ।”^१ बिहारी की नायिका के पैरों में स्पर्श मात्र से ही छाले पड़जाते हैं अतः नाइन भी गुलाब की पंखुड़ियों को झिझकती हुई छुलाती है :—

छाले परिवे कै डरनु सकै न हाथ छुवाइ ।

झझकत हियै गुलाब कै झंवा झंवायत पाइ ॥ (४८३)

यहाँ पर सुकुमारता और कोमलता की यह व्यंजना खिलवाड़ हो गई है । नायिका का शरीर दर्पण के समान है :

अंग अंग-प्रतिबिम्ब परि दरपन सैं सब गात ।

दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात ॥ (६८०)

नायिका की सुकुमारता का वर्णन करते हुए बिहारी लिखते हैं कि नायिका के पैरों की उंगलियाँ लाल हैं, बिछुओं के भार से मानों उनकी ललाई निचुड़ रही है । इस कल्पना से अवश्य ही पाठक और श्रोता पर नायिका की सुकुमारता का गंभीर प्रभाव पड़ता है और उसकी उंगलियों का सुन्दर चित्र अंकित हो जाता है । इसी प्रकार :—
“नित प्रति पूनो ही रहत” में चमत्कार है, स्वाभाविकता और सरसता नहीं । बिहारी ने शास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर भी सौंदर्य की व्यंजना की है । इसलिए बिहारी अपने समस्त पांडित्य-प्रदर्शन करते हैं । पांडित्य प्रदर्शन की कामना से इन स्थलों पर दुरुहता भी उत्पन्न हो जाती है । उदाहरण के लिए अंगणित में शून्य से अंक दसगुना हो जाता है तो बिहारी की नायिका की बिन्दी नायिका के सौन्दर्य में अगणित वृद्धि करती है :—

कहत सबै, बेंदी दियै आंकु दसगुनी होतु ।

तिय-लिलार बेंदी दियै अगिनितु बढ़तु उदोतु ॥ (३२७)

काली अलकों से भयभीत अक्षत लाल तिलक में आश्रय लेता है मानों राहू के भय से चन्द्रमा मंगल की शरण में आया हो :—

भाल लाल बेंदी, ललन, आखत रहे बिराजि ।

इंदुकला कुज मैं बसी मनौ राहु-भय भाजि ॥ (३९०)

स्तनों की कठोरता सिद्ध करने के लिए वह नीतिशास्त्र से कृपण का दृष्टान्त देते हैं :—

जेती संपति कृपण कै, तेती सूमति जोर ।

बढ़त जात ज्यों ज्यों उरज, त्यों त्यों होत कठोर ॥ (१११)

बिहारी को अपने सौन्दर्य चित्रण में कहाँ तक सफलता मिली है, इसका मूल्यांकन करते हुए डा० गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं कि “बिहारी का समस्त नखशिख चित्रण उपर्युक्त चारों प्रवृत्तियों से ग्रसित है। नखशिख वर्णन के पीछे उनका लक्ष्य विभिन्न अंगों की खाना पूर्ति करना ही रहा है। जितना ध्यान उन्होंने अपने क्षेत्र की व्यापकता, शारीरिक-अंग-सौन्दर्य-प्रसाधन और आभूषण आदि की संख्या विस्तार की ओर दिया उतना उन्हें मार्मिक बनाने की ओर नहीं दिया। वे अपने वर्णन को प्रभावशाली बनाने के लिए बुद्धि एवं कल्पना प्रसूत तथ्यों का आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु उसके पीछे भावना की तरलता न होने के कारण उनका निरूपण शुद्ध और नीरस बन गया है।”^१

निःसन्देह सम्पूर्ण सतसई में बिहारी ने चमत्कार परक दृष्टि अपनाई है। सौन्दर्य प्रसंग में भी उनकी दृष्टि चमत्कारपरक ही अधिक रही है, किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि बिहारी ने कहीं-कहीं प्रभावात्मक मार्मिक सौन्दर्य चित्रण किया है। उदाहरण के लिये बिहारी का यह दोहा उनके शब्दचित्र तथा गत्यात्मक सौन्दर्य का अनुपम दोहा है। यद्यपि अलंकार का सहारा लिया गया है किन्तु नायिका की पवित्रता (गंगा) तथा चंचलता (मछली) दोनों ही इस दोहे में मिल जाते हैं। ये दोनों ही तत्व नारी सौन्दर्य के लिये अपेक्षित हैं—

चमचमात चंचल नयन बिच घूँघट पट झीन ।

मानहु सुरसरिता विमल, जल उछरत जुग मीन ॥ (५७६)

इसी प्रकार गौर-वर्ण नायिका की तन-दीप्ति का उल्लेख बिहारी ने मार्मिक रूप में किया—श्वेत रंग की रेशमी साड़ी पहनने पर नायिका की शोभा बढ़ जाती है। उसे देखकर ऐसा लगता है जैसे उसके शरीर का आलोक जल-चादर के दीप की भाँति अपनी आभा विकीर्ण कर रहा हो—

सहज सेत पंचतोरिया, पहिरत अति छवि होति ।

जलचादर कै दीप लौं, जगमगाति तन जोति ॥ (३४०)

इस प्रकार के अनेक दोहे हैं जिनमें बिहारी ने प्रभावात्मक सौन्दर्य वर्णन किया है, किन्तु इतना निश्चित है कि बिहारी चमत्कारवादी युग के कवि हैं अतः सर्वत्र वर्ण्य विषय के मूल में उनकी चमत्कारी भावना रहती है।

बिहारी ने अपने सौन्दर्य वर्णन में चेष्टाओं का वर्णन भी किया है। काव्य-शास्त्र में इन चेष्टाओं को “हाव” कहा जाता है। बिहारी इनके वर्णन में भी पीछे नहीं रहे हैं। विश्वनाथ ने अठ्ठारह चेष्टाओं को अपने साहित्य-

दर्पण में उल्लेख किया है। इन सभी के उदाहरण सतसई में विद्यमान हैं (बिहारी भाव-प्रेरित चेष्टाओं के वर्णन में पूर्णतः सफल रहे हैं। इनमें सरसता है, अनुभूति है और कल्पना का संयोग है, ये आकर्षण में अपूर्व हैं।) नायिका की सजीव मूर्ति खड़ी करने में बिहारी प्रायः सफल रहते हैं। उदाहरण के लिये देखिए—

भौंह उंचै, आँचरु उलटि, मोरि मोरि, मुँह मोरि ।

नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सौँ जोरि ॥ (२४२)

कितना स्वाभाविक चित्रण है। नायिका की इन्ही अदाओं पर बड़े-बड़े संयमी धराशायी होते देखे गए हैं, फिर बिहारी इस प्रकार के वर्णन से दूर क्यों रहते।

बिहारी ने नायिका की मुद्राओं के मार्मिक एवं आकर्षक चित्र खड़े किये हैं। बिहारी की चित्रण-शक्ति का उत्कृष्टतम दोहा यह है, जहाँ नायिका के अंग-प्रत्यंगों व चेष्टाओं का उल्लेख न होकर भी बहुत कुछ है, जिसे देखकर अनेक रसिक मन आकृष्ट होते हैं :—

अहे, दहेंडी जिनि धरै, जिनि तूँ लेहि उतारि ।

नीकें है छीकें छुवै, ऐसैंई रहि नरि ॥ (६९९)

(बिहारी की सद्यस्नाता का चित्र (दो नं० ६९३) वन-बिहार के लिए जाते हुए नायक-नायिका का चित्र (दो० नं० ६०६) नायिका की अंग चेष्टा (दो० नं० ४०६) आदि के चित्र महत्वपूर्ण हैं।)

मुद्राओं के चित्रण करने वाले दोहों की सतसई में भरमार है (वे स्वाभाविक अनुभूतिपूर्ण, और अंग-अंग के सौन्दर्य को व्यंजित करने में सर्वथा सफल हैं। बिहारी इस क्षेत्र में पूर्णतः सफल एवं अद्वितीय हैं।) उनकी समता एक सफल चित्रकार भी कठिनाई से ही कर सकेगा। बिहारी ने नायिका के सौन्दर्य के समन्वित प्रभाव का भी आकलन किया है (बिहारी ने इस क्षेत्र में भी पूर्ण सफलता प्राप्त की है। कहीं नायिका की अंग छवि, कहीं उसके सौन्दर्य की झरप, कहीं उसका सलोना रूप, कहीं सुकुमारता, कहीं उसका अनिवर्चनीय रूप सौन्दर्य, कहीं उसके कटाक्ष का सहारा लेकर बिहारी ने रूप की व्यंजना की है।) इस क्षेत्र में बिहारी निश्चित ही अनुपम कलाकार हैं। उदाहरण के लिये—दूती नायक से आकर नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहती है कि अभी तक नायिका के अंगों से शैशव की शोभा भी नहीं छूटी है, किन्तु यौवन भी उसके अंग-प्रत्यंगों पर झलकने लगा है।) उसकी देह-यष्टि शैशव तथा यौवन की वयः सन्धि की अवस्थाओं से युक्त होने के कारण धूप-छाँह के रंग के समान देदीप्यमान हो रही है, इसमें मुग्धावस्था, बालपन और यौवन सभी की ओर संकेत किया गया है—

छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यो जोबनु अंग ।

दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफता रंग ॥ (७०)

इसके अतिरिक्त ६९१, ५८८, ६४६, ३२२ आदि दोहों में कहीं सम्पूर्ण शरीर के सौन्दर्य की समन्वित व्यंजना और कहीं अंग-विशेष का प्रभावात्मक सौन्दर्य दर्शनीय है ।

बिहारी के रूप चित्रण में नख-शिख वाला अश यद्यपि विशेष प्रभावात्मक नहीं है, वह परम्परा तथा शास्त्रीय ज्ञान के भार से भाराक्रान्त है, तथापि हाव, मुद्रा तथा चेष्टा आदि का वर्णन अपूर्व है । इसमें बिहारी को पूर्ण सफलता मिली है । बिहारी के रूप-चित्रण के विषय में डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है—“वस्तुतः बिहारी ने सौन्दर्य का वर्णन सभी रुचि के लोगों की तृप्ति के उद्देश्य को लेकर किया था और इसमें द्वे सफल भी हुए हैं । जो लोग नारी-अंगों को लेकर अपने मस्तिष्क को शास्त्रीय सिद्धान्तों, अलंकार भेदों एवं जटिल पहेलियों में उलझाना चाहते हैं, बुद्धि का कौशल देखना चाहते हैं, उनके लिये नख शिख वर्णन पर्याप्त सामग्री जुटा देता है । जो लोग चित्रकार की सी दृष्टि लेकर अपने हृदय पर प्रेयसी की कोमल चेष्टाओं के गतिशील चित्र संजोना चाहते हैं, उनकी तृप्ति बिहारी की हाव-योजना से हो जायेगी और यदि थोड़ी देर के लिये सौन्दर्य की भावात्मक अनुभूति में लीन होकर शृंगार-रस के मधुर कणों के आस्वादन का लक्ष्य हो तो उसमें सतसई-कार का मुद्रा-विधान एवं सौन्दर्य का समन्वित चित्रण सहायक सिद्ध होगा ।”^१

नायिका भेद—

(बिहारी सतसई में नायिका भेद के सभी भेदों के उदाहरण मिल जाते हैं) यद्यपि सतसई लक्षण ग्रन्थ नहीं है फिर भी पूर्णतः इसमें नायिका शास्त्र विद्यमान है । इस विषय में एक से एक बढ़कर दोहे विद्यमान हैं । नायिका उनकी सहायिकायें और नायक आदि के सभी रूप विद्यमान हैं । इस सम्बन्ध में “बिहारी और उनका साहित्य” के लेखक लिखते हैं “सभी प्रकार के नायक-नायिकाओं के उदाहरण बिहारी की सतसई में मौजूद हैं । निस्सन्देह उनका नायिका भेद अधिक व्यापक है, जिसमें ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हैं जो आचार्यों ने लक्षित नहीं किये । रीति परम्परा का पूरा-पूरा प्रभाव उनपर था और एतद्विषयक ग्रन्थों की उन्होंने गहन छान-बीन की थी । यदि उन्होंने कोई रीति ग्रन्थ लिखा होता तो वे हिन्दी काव्य शास्त्र के यशस्वी आचार्यों में भी अग्रगण्य होते यह उनके काव्य में प्रकटित काव्य शास्त्रीय ज्ञान से स्पष्ट है ।”^२

१. हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और महाकवि बिहारी । पृ० ३१६

२. डा० हरवंशलाल एवं परमानन्द शास्त्री बिहारी और उनका साहित्य पृ० १०१

(बिहारी ने शृंगार रस के वर्णन में प्रकृति के विभिन्न तत्वों नदी-तट, चन्द्रिका, पवन, ऋतु-वर्ण आदि का सहारा लेकर संयोग-शृंगार को अधिक पुष्ट किया है। इस दृष्टि से यदि हम देखें तो द्वितीया के चन्द्र का वर्णन भावनाओं को उद्दीप्त करने में अधिक समर्थ होता है, उसका वर्णन भी बिहारी ने किया है। (दो० न० ९२) ज्योत्सना वर्णन (दो० नं० २३४) दक्षिण पवन वर्णन (दो० ३९०) उपवन वर्णन (दो० ४९६) कुंज-निशा वर्णन (दो० २९९) कुंज तथा सरिता वर्णन (दो० ६८१) आदि दोहे देखे जा सकते हैं।

बिहारी ने संभोग शृंगार विषयक अनेक दोहे लिखे हैं। बिहारी के नायक-नायिका निरन्तर विलास-भावनाओं में डूबे रहने वाले हैं नायक-नायिका के प्रेम की जाग्रत करने के लिए अनेक दोहे लिखे हैं, प्रेम की उत्पत्ति सौन्दर्य-दर्शन से होती है, इसलिए बिहारी ने अनेक दोहे सौन्दर्य-विषयक भी लिखे हैं और अधिकांश दोहों में नायिका का सौन्दर्य प्राचीन परम्परा युक्त ही है किन्तु उसमें चमत्कार है, नवीनता है और आकर्षण की क्षमता है। नायक-नायिका में परस्पर मान-मनुहार है, हास्य-विनोद है, मुग्धाओं को चिढ़ाना, चुभती बात कहना, उन्हें चौंका देना, उनकी क्रीड़ाओं के सुख और चेष्टाओं के आनन्द को प्राप्त करने के लिए नायक-नायिका निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। इस प्रकार के अनेक दोहे बिहारी-सतसई में हैं। उदाहरण के लिए एक दोहा प्रस्तुत है—नायक-नायिका कहीं हवा खाने जा रहे हैं। मार्ग में नायक के पैरों में कंकड़ गड़ते हैं, नायिका इस गड़न के दुख का अनुभव करती हुई सी-सी करती है, यह सी-सी नायक को अच्छी लगती है अतः वह बार-बार साफ-सुथरे मार्ग का परित्याग कर कंकड़ोले मार्ग से ही चलता है—

नाक-चढ़े सीबी करै, जितै छबीली छैल ।

फिरि फिरि भूलि वहै गहै, प्यौ कंकरीली गैल ॥ (६०६)

(बिहारी ने अपनी सतसई में राधा-कृष्ण की लीलाओं को सामान्य नायिका-नायक पर आरोपित कर वर्णन किया है। उदाहरण के लिए एक दोहा प्रस्तुत है—नायिका नायक से मधुर प्रेम वार्त्तालाप करने को उत्सुक है, अतः वह नायक की मुरली छिपाकर रख देती है। जब नायक मुरली देने को कहता है तो वह शपथ खाकर मुरली छिपाने से ही इन्कार करती है और फिर

मुरली देने की प्रार्थना करने पर मना कर देती है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।

सौंह करे मौहनु हंसे, दैन कहे नटि जाइ ॥ (४७२)

इसी प्रकार की अनेक अठखेलियों, आंखमिचौनी, जलक्रीड़ा, फाग आदि के वर्णन सतसई में हैं। आंख मिचौनी का एक चित्र—

दोऊ चोर मिहीचनी खेलु न खेलि अघात ।

दुरत हियें लपटाय कै छुवत हियें लपटात ॥ (५३०)

इसमें आँख मिचौनी से जब दिल नहीं भरता, तो दिल की प्यास बुझाने के लिए दोनों परस्पर छिपकर आलिंगन भी कर लेते हैं ।

फाग का एक चित्र परम्परागत है, किन्तु बिहारी के संभोग शृंगार के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए महत्वपूर्ण है । नायक-नायिका को होली खेलते देखकर एक सखी दूसरी सखी से कह रही है कि जैसे-जैसे नायिका संकोचवश, उझककर, मुँह को ढककर, झुकती हुई मुस्कराकर खड़ी होती है वैसे ही नायक झूठ-झूठ में ही गुलाल से भरी मुट्ठी को उसके ऊपर फेंकने का बहाना करता है—

जज्यौं उझकि झांपति बदन। झुकति बिहँसि, सतराइ ।

तत्यौं गुलाल-मुठी झुठी झझकावत प्यौ जाइ ॥ (५०३)

(बिहारी के संभोग शृंगार में नेत्रों ने तो कमाल ही कर दिया है । नेत्रों की टकराहट, उनके लड़ने-भिड़ने और अन्त में प्रेम में डूब जाने वाले अनेक दोहे बिहारी ने लिखे हैं)। वयः सन्धि का वर्णन, सघस्नावा का वर्णन, विदेश से लौटकर आने वाले नायक, रति, विपरीत रति, सुखान्त, और अभिसार के चित्रों की भी बिहारी-सतसई में कमी नहीं है ।

(निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि बिहारी का संभोग शृंगार विद्यापति जायसी की परम्परा का है, रीतिकाल की सम्पूर्ण विशेषताओं से युक्त है) शृंगार रस के बिहारी जैसे दोहे मध्यकालीन साहित्य में कम लोगों ने ही लिखे हैं ।

१७

बिहारी का अनुभाव विधान

(काव्य की आत्मा रस है, रसात्मक वाक्य ही काव्य है—‘रसात्मकं वाक्यं काव्यम्’) अतः कवि रसाधायक काव्य के निर्माण के लिए विविधयत्न करता है, किन्तु काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार व्यभिचारिभावों, रसों अथवा स्थायीभावों का अपने वाचक शब्द द्वारा कहना, [स्व शब्द वाच्यता] दोष माना गया है—“व्यभिचारि-रस-स्थायीभावानां शब्दवाच्यता ।”^१ अतः इन तत्त्वों की अभिव्यक्ति के लिये कवि अनुभावों एवं हावों का अवलम्बन लेता है । (भाव के दो पक्ष होते हैं—

एक वह जिसके विषय में भाव प्रवृत्त हुआ है और दूसरा वह जिसके हृदय में भाव उद्बुद्ध हुआ हो—प्रथम को आलम्बन और दूसरे को आश्रय कहते हैं। आलम्बन की चेष्टाओं को उद्दीपन कहते हैं और आश्रय की चेष्टाओं को अनुभाव। अनुभाव का शाब्दिक अर्थ है—“अनु पश्चाद् भावयन्ति इति अनुभावः” अर्थात् भावों के पश्चात् व्यक्त होने वाली चेष्टाओं का नाम अनुभाव है। साहित्य दर्पणकार ने अनुभाव का लक्षण निम्नलिखा है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वै बहिर्भावं प्रकाशयन् ।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥ ^१

अर्थात् “अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से सीता-राम आदि के भीतर उद्बुद्ध रति आदि रूप स्थायीभाव को बाह्यरूप में जो प्रकाशित करता है वह रत्यादि का कार्यरूप, काव्य और नाट्य में ‘अनुभाव’ के नाम से कहा जाता है।” नाट्यशास्त्राकार भरतमुनि के अनुसार अनुभाव का लक्षण यह है—

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ ^२

अथानुभावइति कस्मादुच्यते ? यद्यमनुभावयति ननार्थाभिनिस्पलौ वागंग-सत्त्वैः कृतोऽभिनय इति ।”

अर्थात् इनका अनुभाव नाम इसलिए है क्योंकि ये नाना अर्थों से निष्पन्न वाणी, अंग और सत्व के द्वारा किया हुआ यह अभिनय ही भाव को अनुभव का विषय बनाता है ।” आशय यह है कि वाणी, अंग और सत्व के द्वारा किया हुआ अभिनय ही अनुभाव के नाम से पुकारा जाता है। अभिनय भावों का ही होता है और वे भाव अनुभावों के माध्यम से व्यक्त किये जाते हैं, अनुभाव का भावों को अनुभव का विषय बनाते हैं और भावों का अनुगमन करते हैं, इसलिये इन्हें अनुभावक कहते हैं) ^३

(‘भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार अनुभावों का विशेष उपयोग अभिनय की दृष्टि से ही होता है। किसी रस की बाह्य अभिव्यक्ति के लिये अलग-अलग अभिनय शैली का अवलम्बन किया जाता है। अलग-अलग रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य व्यापार ‘अनुभाव’ कहलाते हैं और वे प्रत्येक रस में अलग-अलग होते हैं)। वैसे अनुकार्य की दृष्टि से भी वे उसकी रसानुभूति के बाह्य प्रदर्शक

१. साहित्य-दर्पण ३/१३२

२. नाट्यशास्त्र ७/५

३. डा० राम सागर त्रिपाठी मुक्तक काव्य परम्परा और बिहारी, पृ० ३७७

होते हैं। भरतमुनि के द्वारा अनुभावों का यह जो विशेष रूप से अभिनय में प्रयोग दिखलाया गया है, उससे प्रतीत होता है कि अनुभाव वस्तुतः आन्तर रसानुभूति की बाह्य अभि-व्यंजना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। नट कृत्रिम रूप से इन अनुभावों का अभिनय करता है परन्तु अनुकार्य राम आदि की अन्तःस्थ रसानुभूति की बाह्य अभि-व्यक्ति इन साधनों के द्वारा होती है। वे रसानुभूति के बाद 'अनु पश्चात् भवन्ति इत्यनुभावाः' बाद में होते हैं, इसलिए 'अनुभाव' कहलाते हैं अथवा अनुकार्य राम आदि की रसानुभूति का अनुभव, अनुमान सामाजिकों को कराते हैं, इसलिये अनुभाव कहलाते हैं।"१

अनुभाव अनन्त हैं, एक-एक भाव के बहुत से अनुभाव हो सकते हैं, किन्तु मुक्तक जैसी रचना के लिये उन्हीं अनुभावों का चयन किया जाता है, जो भाव की व्यंजना में पूर्णतः समर्थ होते हैं (अनुभावों के दो प्रमुख विभाग किये जा सकते हैं— (१) सात्विक और (२) कायिक। अन्तःकरण की बाह्य चेष्टाओं को सात्विक अनुभाव कहते हैं और शारीरिक बाह्य चेष्टाओं को कायिक अनुभाव।)

(रितिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी अनुभाव-व्यंजना के धनी हैं, उनकी सतसई सात्विक और कायिक अनुभावों के साथ-साथ वाचिक और आचार्य अनुभावों की क्रीड़ास्थली भी है) संयोगकालीन अवस्था में आन्तरिक आनन्द के फलस्वरूप जो स्वेद, कंप, रोमांच, वैवर्ण्य, आदि दिखाई पड़ते हैं, उनकी गणना सात्विक अनुभावों में की जाती है। इन सात्विक अनुभावों का प्रादुर्भाव प्रायः प्रिय के दर्शन, श्रवण और स्पर्श से होता है। वेणी गूँथने के प्रसंग में बिहारी के स्पर्शजन्य सात्विक अनुभाव का चित्र देखिये—

रहौ गुही बेनी, लखे गुहिबे के त्योंनार ।

लागे नीर चुचान जे नीठि सुखाए बार ॥ (४८०)

नायक नायिका की चोटी गूँथ रहा है—स्पर्श से दोनों को स्वेद हो आया है और नायिका की वेणी के बाल भीग गए हैं। अपना सात्विक भाव छिपाने के लिए नायिका कहती है—रहने दो, गूँथ चुके वेणी। देख लिया तुम्हारा ढंग। इतनी कठिनाई से मैंने बाल सुखाये थे, वे फिर गीले हो गये। प्रेम की व्यंजना अपूर्व है।

(अनुभावों की अभिव्यक्ति में नेत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। नेत्र प्रेम-प्रदर्शन के सर्वाधिक सफल तथा उपयोगी अंग हैं। नायक एवं नायिका परिचितों एवं गुरुजनों से घिरे हुए हैं। इस अवस्था में नेत्रों द्वारा ही सारे भाव गोप्य रहकर भी स्पष्ट हो रहे हैं। बिहारी का यह प्रसिद्ध उदाहरण देखिये—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत लजियात ।

भरे भौन में करत हैं नैननु ही सब बात ॥ (३२)

नायक नेत्रों से ही संभोग की कामना व्यक्त करता है, नायिका के नेत्र उसका इन्कार 'नटत' करते हैं। किन्तु 'नटने' की अदा पर नायक महोदय और भी बेहाल (रीझ जाते हैं) हो उठते हैं, नायिका का इन्कार और नायक का रीझना नायिका की खीझ को उत्पन्न करता है और वह नाराज होकर बैठ जाती है, किन्तु थोड़ी देर बाद दोनों के नेत्र फिर मिलते हैं। इस पर नायक के नेत्र मुस्करा देते हैं और इस मार्मिक मुस्कराहट पर नायिका लज्जित हो जाती है। यह सम्पूर्ण व्यापार एक छोटे से दोहे में बिहारी की लेखनी से ही सम्भव था ।)

दर्शन जन्य सात्विक का एक अन्य उदाहरण—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।

कंपि किसोरी दरस कै खरै लजाने लाल ॥ (६०१)

श्रीकृष्ण ने ब्रज की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत उठाया था, इसी समय कहीं उनकी निगाहें राधा से टकरा गईं, फिर क्या था—प्रेमोद्रेक हुआ, कम्प हुआ, हाथ कांपने लगे, पर्वत डगमगाने लगा, ब्रजवासियों का हाल बेहाल हो गया और अन्त में श्रीकृष्ण को जब सब ज्ञात हुआ—तो लज्जित होकर रह गये ।

(बिहारी ने अनुभवों के माध्यम से रस का सफल संचार भी किया है, रस व्यंजना का वैभव उनके अनुभाव-विधान में सहज ही देखा जा सकता है) उदाहरण के लिए एक दोहा प्रस्तुत है—

सटपटाति सैं ससिमुखी, मुख घूँघट-पटु ढाँकि ।

पावक-झरसी-झमकि कै, गई झरोखा झाँकि ॥ (६४६)

“रस में अनुभावों की ही योजना कर दी गई है—सटपटाना, घूँघट निकालना, झमक कर झरोखे से नायक को झाँकना, सभी नायिका की चेष्टायें हैं, पर इन्हीं के द्वारा कवि ने रस के सभी अंगों को दिखलाया है। आलम्बन नायिका और नायक दोनों प्रस्तुत हैं। नायिका का पावक-झर के सदृश झरोखे में लपकना उसका ससि मुख और घूँघट पट उड़ीपन है, त्रास, ब्रीड़ा और उत्सुकता संचारी हैं, अभिलाषा दशा का चित्रण है। जिसमें विलास हाव है, स्थायी भाव रति। इन सबकी व्यंजना से अत्यन्त मनोहारी रूप में चित्रित कर दिया गया है। यदि अनुभावों का ऐसा सुन्दर विधान न होता तो रस-संचार दोहे में न हो सकता।”

इस दोहे में व्याकुलता की व्यंजना के लिए भी कवि ने अनुभावों का सहारा लिया है—

कहा लड़ते दृग करे, परे लाल बेहाल ।

कहुँ मुरली, कहुँ पीत पटु, कहुँ मुकुट बनमाल ॥ (१५४)

कवि ने व्याकुलता की व्यंजना के लिए मुरली, पीत पट, मुकुट और बनमाल की अस्त व्यस्तता दिखाई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चिन्ता में मनुष्य अपनी वस्तुओं को भी संभाल कर नहीं रख पाता है। “यद्यपि दोहा सामान्य है पर अनुभावों की योजना बिहारी की अपनी स्वतन्त्र अनुभूति के द्वारा बड़े अच्छे ढंग से की गई हैं।”

श्रवण जन्य सात्विक का चित्र—

आयी मीतु बिदेस तैँ काहू कह्यौ पुकारि ।

सुनि हुलसी बिहँसी हंसी दोऊ दुहुनि निहारि ॥ (६५७)

नायक-मित्र के आगमन का समाचार सुनकर दोनों ही नायिकाएँ अपना उल्लास हंसकर व्यक्त करती हैं।

स्मृतिजन्य सात्विक अनुभाव इस दोहे में दर्शनीय हैं—

मैं यह तोही में लखी भगति अपूरब बाल ।

लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदम्ब की माल ॥ (४७०)

सखि का यह परिहास नायिका से उस अवसर पर है जब उसने अन्य सखियों के मध्य नायिका को नायक की माला ठाकुर जी का प्रसाद कहकर दी और उसे पहनते ही नायिका को रोमांच हो आया है।

(बिहारी सतसई में समस्त सात्विक भावों का वर्णन मिल जाता है) उदाहरण के लिए—

स्तम्भ : हर्ष, भय, लज्जा, विस्मय, विषाद आदि की शरीर का किकर्तव्य विमूढ़ होकर रुक जाना स्तम्भ नामक सात्विक भाव होता है—

रूप-सुधा-आसव छक्यौ, आसव पियत बने न ।

प्याले ओठ, प्रिया-बदन रह्यौ लगाएँ नैन ॥ (६५०)

स्वेद : क्रोध, भय, हर्ष, दुःख आदि से स्वेद उत्पन्न होता है—

रहौ गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार ।

लागे नीर चुचान जे नीठि सुकाए बार ॥ (४८०)

रोमांच : रोमांच की उत्पत्ति, श्रम, शीत, स्पर्श, और क्रोधादि से होती है और शरीर रोमांचावस्था में पुलकित हो उठता है—

पहिरत ही गोरें गरें, यौ दौरी दुति लाल ।

मनौ परसि पुलकित भई बोलसिरी की माल ॥ (५१३)

स्वरभंग : कभी-कभी भय, हर्ष, क्रोध, मद आदि के कारण स्वर गदगद हो

उठता है, ध्वनि बदल जाती है—

सुरति न ताल न तान की, उठ्यौ न सुरु ठहराइ ।

एरी रागु बिगारि गौ बैरी बोल सुनाइ ॥ (५५२)

कंप : कम्प की उत्पत्ति क्रोध, भय, शीत, आनन्द की अवस्था में होती है—

डिगत पानि डिगुलात गिरि लखि सब ब्रज बेहाल ।

कंपि किसोरी दरसि कै, खरै लजाने लाल ॥ (६०१)

वैवर्ण्य : वैवर्ण्य, मोह, क्रोध, भय, श्रम, शीत, ताप से उत्पन्न होता है ।

वैवर्ण्य में मुख पीला तथा उसके रंग बदलने की अवस्था होती है—

तीज-परब सौतिनु सजे भूषन बसन सरीर ।

सबै मरगजै-मुंह करी इही मरगजै चीर ॥ (३१५)

अश्रु : आनन्द, भय, शोक, क्रोध, जृम्भा आदि से अश्रु निकलते हैं ।

(बिहारी ने सात्विक अनुभावों की भांति ही कायिक अनुभावों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है । कायिक अनुभावों से अभिप्राय शारीरिक चेष्टाओं से है) उदाहरण के लिए देखिए—

इत तैं उतउत ते इतैं, छिनु न कहूँ ठहराति ।

जक न परति चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति ॥ (२०६)

नायिका की यह अस्थिरता की स्थिति 'ओत्सुक्य की अभिव्यक्ति करती है । इसी प्रकार निम्न दोहे में 'चपलता' का भाव कायिक अनुभावों के माध्यम से स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष हो उठा है—

उड़ति गुड़ी लखि लाल की अंगना अंगना मांहि ।

बोरी लौँ दौरी फिरै छुअत छबीली छांहि ॥ (३७३)

मिलन-उत्साह में आकण्ण निमग्न वधू रात्रि के क्रमशः निकट आते-आते पारिवारिक कार्यों को सोत्साह शीघ्रता से पूरा कर रही है—

ज्यों ज्यों आवति निकट निसि त्यों त्यों खरी उताल ।

झमकि झमकि टहलै करै लगी रहचटै बाल ॥ (५४३)

बिहारी सुरतश्रम के अनुभावों की व्यंजना की भी उपेक्षा न कर सकै, वे लिखते हैं—

सकुचि सरकि पिय-निकट तैं मुलकि कछुक तन तोरि ।

कर आंचर की ओट करि जमुहानी मुँह मोरि ॥ (४६६)

बिहारी ने वाचिक अनुभाव का चित्रण भी किया है । नायक-नायिका के

परस्पर प्रेम संज्ञाप, खण्डिता को कटूक्तिग्री, संभोगेच्छा अथवा संदेश प्रषण की क्रियायें वाचिक अनुभावों के अन्तर्गत आती हैं (बिहारी के नायक-नायिका भेद के अन्तर्गत अनेक दोहों में वाचिक अनुभाव देखे जा सकते हैं) उदाहरण के लिए—

लाज गही बेकाज कत घेरि रहे घर जाहि ।

गोरसु चाहत फिरत हौ गोरसु चाहत नाहि ॥ (१२६)

यहाँ पर नायिका ने वाग्वैदग्धा के द्वारा सहवास जन्य आनन्द प्राप्त करने के लिए नायक को आमन्त्रण दिया है ।

आहार्य अनुभव के अन्तर्गत भूषण, वस्त्र, आदि शृंगार करने के भावों की अभिव्यक्ति होती है । जब नायिका प्रिय के निकट जाने के लिए अपना शृंगार करती है तब उसकी सज्जा आहार्य अनुभाव कहलाती है, किन्तु बिहारी ने प्रायः नायिकाओं की साज-सज्जा का सामान्य वर्णन ही किया है । अनुभाव के रूप में बिहारी ने ऐसा वर्णन कम ही किया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि बिहारी लाल ने अपनी सतसई में भावाभिव्यञ्जना के लिए अनुभावों को जैसी मार्मिक व्यञ्जना की है, वह दर्शनीय है । मुक्तक रचना की सफलता के लिये कवि का अनुभावों के चयन में प्रवीण होना आवश्यक है । एक भाव को व्यक्त करने के लिए अनेक अनुभाव होते हैं । मुक्तक रचनाकार की कुशलता यही है कि वह चुने हुए ऐसे अनुभावों को सामने लाये कि जिससे भाव का सजीव चित्र पाठक की दृष्टि के सामने खड़ा हो जाये । ऐसे प्रभावोत्पादक रसोद्रेकी अनुभावों के चयन की क्षमता बिहारी में पूर्ण से विद्यमान थी । इसीलिए शुक्ल जी ने बिहारी के सम्बन्ध में लिखा था कि 'बिहारी की रस व्यञ्जना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है ।' (३)

बिहारी लाल केवल अनुभाव योजना में ही दक्ष न थे, अपितु हाव-नियोजन में भी उन्होंने अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है । उनकी हाव-व्यञ्जना भी अनुभाव-व्यञ्जना की भांति ही प्रभावशालिनी थी । 'हाव' को रीति ग्रन्थकारों ने अनुभाव के अन्तर्गन माना है । किन्तु हाव और अनुभाव में मौलिक अन्तर है ।

संस्कृत एवं हिन्दी में भाव, और अनुभव पर विस्तार से विचार किया गया है, किन्तु सभी विचारकों के अपने-अपने मत हैं; अतः सूक्ष्म स्पष्टीकरण नहीं हो सका है । 'भरत के अनुसार' भाव, हाव तथा हेला एक दूसरे से उद्भूत होते हुए 'सत्त्व' के विभिन्न रूप होने के कारण सरीर से सम्बद्ध माने जाते हैं । (ना० शा० २४/६) । आगे उनका कहना है 'सत्त्व' भाव से उत्पन्न होता और हेला

हाव से”^१ इन अनुभाव अलंकारों को स्त्रियों की भावाभिव्यक्ति से सम्बद्ध माना गया है। पर कुछ आचार्यों ने कुछ अलंकारों को पुरुषों से भी सम्बद्ध माना है। भोज ने ‘हेला’ और हाव को दोनों में स्वीकार किया है। हिन्दी में प्रायः इनको हाव की संज्ञा दी गई है। इन अलंकारों का कई नामों से विवेचन किया गया है। भोज ने इनकी चर्चा “वरस्त्रीणां विलासः” के रूप में की है अर्थात् वे इन्हें ‘विलास’ मानते हैं। भानुदत्त हाव को नारी की स्वाभाविक चेष्टा मानते हैं। पुरुषों में भी लक्षित होने वाले बिम्बोक, विलास, विच्छित्ति तथा विभ्रम केवल उपाधि स्वरूपा ही उनमें होते हैं। भरत के अनुसार ‘सत्व भाव उद्रेक के साथ अन्य व्यक्ति के प्रति व्यंजित होता है और इसी की विभिन्न स्थिति से सम्बद्ध ‘हाव’ देखे जाते हैं” “(ना० शा० २४।९)।” धनजय के अनुसार “हेलादय शृंगारो हावोऽक्षि भ्रू विकारकृत्” (दशरूपक २।३४)। भाव की वह विकसित अवस्था, जिसमें भोगेच्छा प्रकाशक, कटाक्षपात आदि विकार प्रकट होने लगते हैं, ‘हाव’ कहलाती है। विश्वनाथ ने लिखा है कि भाव का अल्प व्यक्त रूप हाव होता है जिसमें भ्रू-नेत्रादि के विकार तथा संभोगेच्छा का प्रकाशन होता है—

हाव : भ्रू-नेत्रादि विकारस्तु संभोगेच्छा प्रकाशकः

भाव एवाल्प संलक्ष्य विकारो हाव उच्यते ॥ सा० द० ३।१०४

विश्वनाथ एक प्रकार से शृंगार चेष्टाओं को ही हाव मानते हैं शिगभूपाल ने इन्हें भाव कहा है। भानुदत्त के प्रभाव से हिन्दी में इन्हें हाव कहा जाता है। केशव मिश्र ने ‘हाव’ की संज्ञा दी है। हिन्दी में प्रायः सर्व स्वीकृत शब्द ‘हाव’ ही है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि “नायिका की प्रेमपूर्ण चेष्टाओं को काव्य शास्त्र में ‘हाव’ की संज्ञा दी गई है।” यह ‘हाव’ शब्द ‘हिन्दी में सम्पूर्ण सात्विक अलंकारों के लिए प्रयुक्त शब्द’^२ है।

सम्पूर्ण अलंकारों तथा हावों को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) शारीर अलंकार जो रूपात्मक सौन्दर्य का संकेत देते हैं—शोभा, कान्ति, दीप्ति, तथा माधुर्य। (२) मानस अलंकार से चरित्र सौन्दर्य की व्यंजना होती है—प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य। (३) स्वभावज हाव के अन्तर्गत नायिका की स्वाभाविक चेष्टाएँ आती हैं—लीला, विच्छित्ति, कुटुमित, बिम्बोक, ललित, मौग्ध्य, विक्षेप, और व्याज प्रदर्शन। (४) अयत्नज-हाव नायिका सहज चेष्टाओं को कह सकते हैं—हेला, विलास, विभ्रक, किलकिचित् विहृत, हसित, और चकित। इन

१ हिन्दी साहित्य कोष पृ० १

२ हिन्दी साहित्य कोष पृ० ९६५,

अलंकारों तथा हावों को अनुभावों के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है, परन्तु आलम्बन रूप में नायिका के सम्बन्ध में इन्हें उद्दीपन विभाव ही कहा जा सकता है। परन्तु हाव नायक को आकर्षित करने के साथ ही नायिका के मनोभाव भी व्यक्त करते हैं, अतएव इन्हें उद्दीपन-विभाव तथा अनुभाव दोनों माना जा सकता है। जब नायिका आलम्बन विभाव होगी, तब उसके 'हाव' उद्दीपन विभाव होंगे और जब नायक आलम्बन-विभाव होगा, तब ये नायिका के अनुभाव कहे जायेंगे।^१

साहित्य-दर्पण ने हाव अठारह माने हैं, उन सभी के उदाहरण बिहारी सतसई में क्रमशः लीला दोहा १५५, विलास दो० ४७२, विच्छिन्ति दो० ६७९, बिम्बोक दो० ३६४, किलकिंचित दो० १८७, मोट्टायित दो० २५८, कुट्टमित दो० ६४४, विभ्रम दो० २४५, ललित दो० ३८४, मद दो० ९३, विहृत दो० ४०८, उद्दीप्त दो० ५२५, मौग्ध्य दो० ५९६, विक्षेप दो० ३०, क्तूहल दो० ५६०, हसित दो० ६९७, चकित दो० ९९, केलि दो० ३५०, मिल जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकवि बिहारी ने अपने भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिए अनुभावों एवं हावों का सहारा लिया है। उनका हाव एवं अनुभाव वर्णन हृदयगाही है। अनुभावों के चयन में कवि-कुशलता दर्शनीय है। उनके अनुभावों के समस्त चित्र प्रभावोद्गादक एवं सरस हैं, रस-व्यंजना में पूर्ण समर्थ हैं। महाकवि देव ने भी अनुभावों की योजना की है किन्तु वे अलंकार प्रियता की ओर अधिक आकृष्ट हैं, रत्नाकर ने भी अनुपम अनुभाव-योजना की है, किन्तु रत्नाकर ने कवित्त जैसे बड़े छन्द का आश्रय लिया है, उन्हें अवसर है कहने का। इस दृष्टि से बिहारी का महत्व स्वयं सिद्ध है, क्योंकि छोटे से दोहे में इतनी सुन्दर अनुभावों की योजना उनके नैपुण्य की ही परिचायक है। आचार्य शुक्ल ने बिहारी के अनुभाव-विधान की प्रशंसा करते हुए लिखा है—
“बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है, अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है।”^२ इसी प्रकार डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी लिखा है “बिहारी की कविता में जैसी सच्ची योजना हावों एवं अनुभावों की दिखाई पड़ती है वैसी हिन्दी के कम कवियों में मिलती है।”^३

१ हिन्दी साहित्य कोष पृ० ९०६-९०७,

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० २४८

३ बिहारी की वाग्बिभूति पृ० ९५

बिहारी का विरह वर्णन

हिन्दी के समस्त शृंगारी कवियों ने विरह-वर्णन पर लेखनी चलाई है। विद्यापति, जायसी एवं सूर के विरह वर्णन में किसी सीमा तक स्वाभाविकता का निर्वाह हुआ है। यद्यपि ऊहा और अतिशयोक्ति के चमत्कार इन कवियों में भी देखे जा सकते हैं, किन्तु इसका अतिरेक रीतिकाल की कविता में विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। जैसा कि डा० गोपीनाथ तिवारी ने हिन्दी साहित्य की विरहिनियों का उल्लेख करते हुए लिखा है। कि “सेनापति की बिरहिणी डरी हुई है अतः विष की डरी खाती है, सूर की वियोगिनी के पास से वर्षा के बादल कभी दूर नहीं होते और उसके आंसुओं में वर्षा की झड़ी आ छिपती है। पद्माकर की वियोगिनी चैती चांदनी में चुर जाती है। ऐसी अनेक बिरहिनियाँ मध्यकालीन काव्य जगत् में विसूर रही हैं। किन्तु बिहारी की बिरहिनी इनकी सिरताज है। सभी विरह एवं विरहिनियों की छाती हलवाई की भट्टी या भड़भूँजे की भाङरेणका बनी रहती है किन्तु बिहारी की विरहनी का ताप बड़ा ऊँचा और भयानक है।”^१ वास्तव में बिहारी ने अपने विरह वर्णन में ऊहा और चमत्कार का सहारा लिया है। अतः इनके वर्णन में विरह वेदना का अग्निरूप में वर्णन, आंसुओं की वर्षा का चित्रण, शारीरिक कृशता का वर्णन, तथा बाह्य उपचारों के विरोधी प्रभाव का वर्णन विशेष मिलता है। इसीलिए डा० गणपतिचन्द्र ने कल्पना के चमत्कार पर आश्रित इस विरह वर्णन का भावोत्पादन की दृष्टि से (अत्युक्ति पूर्ण वर्णनों का) कोई मूल्य नहीं माना है।”^२ बिहारी के इस वर्णन का भावोत्पादन के लिए मूल्य हो या न हो, उस चमत्कारवादी कला-प्रधान युग में उक्ति-चमत्कार और वाग्वैदग्ध्य के इस रूप के अतिरिक्त और किस वस्तु की अपेक्षा सम्भव थी !

बिहारी की नायिका के वक्ष को विरह वर्णन में जलता देखकर एक सखी द्रवित हो जाती है और गुलाब जल की शीशी उलट देती है, किन्तु दुर्भाग्य से गुलाब जल की एक बूँद भी उसकी छाती तक नहीं पहुँच पाती। सारा जल छाती की ज्वाला से भाप बन कर बीच में ही उड़ जाता है।

औंधाई सीसी, सु लखि बिरह-बरनि बिललात ।

बिच हीं सूखि गुलाब गौ, छोटौ छुई न गात ॥ (२१७)

१ साहित्य-सरोवर पृ० ११३,

२ हिन्दी काव्य में शृंगार परम्परा और महाकवि बिहारी, पृ० ३३१

बिहारी की आंखों से आंसू बहते हैं। वे कपोल से आगे बढ़कर छाती तक पहुंचते-पहुंचते जलते हुए तवे पर पड़ने वाली बूंद की तरह छन-छन शब्द करते हुए छूमन्तर होकर भाप बन जाते हैं। :-

पलनु प्रगटि, बरुनीनु बढ़ि, नहि कपोल ठहरात ।

अंसुवा परि छतिया, छिनकु छनछनाइ, छिपि जात ॥ (६५९)

(बिहारी की वियोगिनी की विरह ज्वाला बढ़ते-बढ़ते ज्वालामुखी बन जाती है। :-

ज्वालामुखी सी जरति लखि, लगनि-अगनि की ज्वाल । (५४)

वह कपूर की तरह हरहरा कर जल उठती है। :-

हरि हरि बरि बरि उठति है, करि करि थकी उपाइ ॥ (११९)

(घर के सभी व्यक्ति नाना प्रयत्न कर हार गये और उसके पास जाना सम्भव न हो सका। जाड़े की रात का क्या कहना उन दिनों में तो उसकी सखियाँ साड़ियों एवं चोलियों को गीलाकर उसके पास पहुंचने की हिम्मत करती थीं—

आड़े दे आले बसन जाड़े हूँ की राति ।

साहस ककै स्नेह बस, सखी सबै ढिग जाति ॥ (२८३)

उसकी विरह ज्वाला की तीव्रता केवल घर वालों के लिए ही अभिशाप न थी, उसके पड़ोसियों की भी हालत खस्ता थी। पूष-माह का भयंकर जाड़ा पड़ रहा था, किन्तु पड़ोसियों के शरीर से पसीना बह रहा था, वे झुलस रहे थे। इस गर्मी से बचने के लिए खस की टट्टी का सहारा लिया गया और जैसे तैसे राम-राम करके जाड़ा तो बीत गया, किन्तु ग्रीष्म में वैशाख-ज्येष्ठ कैसे बीतेगें, यह एक समस्या थी—

(सीरेँ जतननि सिसिर ऋतु, सहि बिरहिनि तन ताप ।

बसिवे को ग्रीष्म दिवसु परो परोसिन पाप ॥ (२६६)

माघ मास था, हड्डियों को कपां देने वाला जाड़ा पड़ रहा था, ऐसी ही एक रात में एक बिरहिणी का पति दूर देश की एक धर्मशाला में ठहरा हुआ था, कि एक अन्य पथिक उस धर्मशाला में पहुंचता है, वार्तालाप होता है, पता चलता है कि यह पथिक भी उसी गांव के पास से होकर आया है। फिर क्या था, गांव के हालचाल पूछे जाने लगे—पूछा कि क्या तुम गांव होकर ही आये हो, पथिक ने कहा नहीं भय्या, मैं तो उस गांव के पास होकर बीहड़ रास्ते का चक्कर लगाकर आ रहा हूँ, क्योंकि उस गांव में तो भयंकर लूँ चल रही थी—उनकी भयंकर लपटों में आसपास के सभी जल रहे थे, फिर मैं कैसे उधर होकर आ सकता था—फिर क्या था, अभी तक घबड़ा

रहे नायक के मुख पर हास्य-रेखा खिल उठती है, क्योंकि उस गांव में केवल एक ही विरहिणी थी, और वह भी उसी की पत्नी। क्योंकि लूँए चल रही है, अतः उसकी पत्नी भी जीवित ही हैं—

सुनत पथिक मुंह मांह निसि, लुवैं चलत उहि गांम ।

बिन पूछे बिन ही कहे, जियत बिचारी बाम ॥ (२८५)

यहाँ बिहारी की तार्किकता एवं अनुमान ने विरह को अस्वाभाविक और हास्यास्पद बना दिया है।

बिहारी की एक विरहिणी विरह ज्वाला में चन्द्रकला की भाँति क्षीण होती जा रही है, यहाँ तक कि उसकी सदा समीप रहने वाली सखियाँ भी उसे पहचान नहीं पाती। :—

करके मीड़े कुसुम लौं गई बिरह कुम्हिलाइ ।

सदा-समीपिनि सखिनु हूँ नीठि पिछानी जाइ ॥ (५१६)

क्योंकि प्रायः ऐसा होता भी है विरहिणी की कांति फीकी पड़ जाती है, उसका मुखमण्डल भी बदल जाता है। मिश्रजी के अनुसार बिम्ब की संवेदन-शीलता तथा विरह वेदना का बिम्ब अपनी पूर्णता में व्यक्त हुआ है। लेकिन बिहारी की नायिका प्रायः ऊहा के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई है। बिहारी की यही नायिका क्षीण होते-होते दो-तीन तोले की रह गई है। जैसे पवन के चलने पर सूखा पत्ता उड़ता-फिरता है, उसी प्रकार वह श्वासों के साथ आगे-पीछे होने लगी है श्वास बाहर निकली तो वह छः-सात हाथ आगे बढ़ गई, श्वास भीतर ली कि वह छः-सात हाथ पीछे सरक गई। इस प्रकार घड़ी के पेंडुलम की भाँति निरन्तर हिलती रहती है :—

इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ ।

चढ़ी हिंडोरै सी रहै, लगी उसासनु साथ ॥ (३१७)

इन स्थालों को देखकर आचार्य शुक्ल ने लिखा है “इनकी भाव-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खिलवाड़ के रूप में हो गई है।” वास्तव में इस दोहे में अनुभूति से दूर-दूर का वास्ता नहीं है।

बिहारी की नायिका की क्षीणता यहाँ तक बढ़ती है कि वह दिखलाई तक नहीं देती। अब तो उसकी गणना जीवितों में नहीं होती है क्योंकि वह जीवित होकर भी मरी हुई है :—

गनती गनबे ते रही, छतहू अछत समान ॥

बिहारी का अब एक अन्य कमाल देखिए। मृत्यु इस विरहिणी की खोज में

निकल पड़ी, विरहिणी सूखकर काँटा हो गई है। वह दिखलाई भी नहीं देती, मृत्यु ने उसे खोजने के लिए बहुत हाथ-पैर पीटे, किन्तु फिर भी वह असफल रही। अन्त में हारकर उनने खुर्दबीन ऐनक अपनी आँखों पर चढ़ाया। इस पर भी कृशकाय विरहिणी दिखलाई न दी और इस प्रकार वह मृत्यु के शिकंजे से बच सकी।

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़त नीचु ।

दीने हू चसमा चखनि चाहै लहै न मीचु ॥ (१४०)

विरहिणी घर के बाहर आकर बैठती है, क्योंकि घर के भीतर मृत्यु देख नहीं पाती है तथा बाहर बैठकर पति की प्रतीक्षा भी अच्छी तरह से हो सकेगी। किन्तु अचानक वह खड़ी हो गई और सखी का हाथ पकड़ कर बोली सखी भीतर भाग चल। देख ये अङ्गार बरष रहे हैं। सखी ने फाड़कर जब चारों ओर देखा, तो मालुम हुआ कि जुगनू चमक रहे हैं और विरहिणी उन्हें अंगारे समझ रही है :—

बिरह-जरी लखि जीगननु, कही न डहिकै बार ।

अरी आव भजि भीतरे बरसत आजु अंगार ॥ (५९६)

फिर सखी समझाती है कि ये अंगारे नहीं हैं, खद्योत हैं, जो प्रियतम के मार्ग को प्रकाशित कर रहे हैं, फिर चन्द्रमा निकलता है, उसे देखकर विरहिणी आग की चिता समझकर उसमें दौड़कर कूदना चाहती है और चन्द्रमा के कारण कमल मुंद गए हैं, विरहिणी भी चाहती है कि उसकी आँखें भी मुंद जाँय। इसी बीच दिन निकल आया, कमल खिल उठा। उसे देख तथा आग समझकर पुनः वह दौड़ती है। इसी बीच सुगन्धित पवन चलने लगता है। विरहिणी सोचती है, चलो अच्छा हुआ कि जहाँ से पवन आग लेकर आ रहा है, वहीं पहुँचकर जल मरूँ—

मरिबे कौ साहस ककै, बड़े बिरह की पीर ।

दौरति है समुहैं ससि, सरसिज सुरभि समीर ॥ (५८५)

विरहिणी जब घबराकर रोने लगती है, तो वहाँ जल प्रलय हो जात है और जब वह नदी के किनारे जाकर रोती है, नदी का जल जलने लगता है—

अंसुवन करति तरौंस कौ खिनकु खौरौँही नीर ॥ (२९२)

नयनों से उसके हृदय की आग पानी के रूप में बाहर आ रही है, कैसे ? आग से हृदय द्रवित होता है और भाप बनकर आंसू के रूप में बाहर आता है—

तच्यौ आंच अब बिरह की रह्यो प्रेमरस भीजि ।

नैननु के मग जल वहै हियौ पसीजि पसीजि ॥ (३७८)

कभी-कभी विरहिणी घर में बैठकर रोने लगती है, तो गाँव में बाढ़ आ जाती है और लोग आंसू-नदी को नाव से या तैर कर पार करते हैं :—

गोपिनु कै असुवन भरी सदा, असोस अपार ।

डगर डगर नै ह्वै रही, बगर बगर के बार ॥ (२९३)

काश, आज बिहारी होते और अपनी नायिका से राजस्थान आदि में वर्षा करवा देते तो भारत का कितना उद्धार होता और वर्षा-ऋतु में बाढ़ वाले स्थान पर बैठकर सारे जल को सुखवा देते । इस दुखिता विराहिणी के पास एक तोता था, जो इस विरहिणी के दशा बाजार, चौराहे आदि में कहता फिरता था, जिसे सुनकर सुनसे वाले खड़े-खड़े रोते थे—

कहे जु वचन वियोगिनी विरह विकल विललाय ।

किए न को अंसुवा सहित, सुवा सुबोल सुनाय ॥ (५३७)

बिहारी का विरह यद्यपि एक दो स्थानों पर अनुभूतिपरक है अन्यथा वह ऊहाओं की लपट में लिपटा हुआ है, उनपर बाहरी प्रभाव प्रचुर है, किन्तु कभी-कभी वह भारतीय वर्णन से भी मेल खाता है ।

(बिहारी के विरह में कभी-कभी स्वाभाविकता एवं प्रभावात्मकता के भी दर्शन हो जाते हैं । यह विरह-प्रसङ्ग कितना स्वाभाविक है) अभी तो प्रथम वियोग से दुःखित नायिका के अंगों में स्वाभाविक रंग तक नहीं आया है “इसमें प्रथम वियोग का पूरा दुःखात्मक वातावरण व्यंजित हो उठता है । इतना ही नहीं उस वियोग में तो विचारी की यह दशा हुई, इस वियोग में क्या होगा । प्रथम वियोग से दुर्बल शरीर और उसके रंग से विरह पूरी अभिव्यक्ति पा जाता है—

अजौं न आए सहज रंग विरह द्वारे गात ।

अब ही कहा चलाइयत ललन चलन की बात ॥ (२०३)

बिहारी ने विरह में परम्परा का पालन करते हुए मलार राग से वर्षा का आमन्त्रण भी किया है—

पूस मास सुनि सखिन सों साईं चलत सवार ।

गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यो रागु मलार ॥ (१४६)

(विरह में पति के आगमन सम्बन्धी समाचार तथा शकुन आदि पर भी बिहारी ने लिखा है । आगतपतिका का यह उत्साह एवं उल्लास स्वाभाविक है —

मृगनैनी दृग की फरक उर उछाह तन फूल ।

बिनही पिय आगम उमगि पलटन लगी दुकूल ॥ (२२२)

(बिहारी ने आंख के अतिरिक्त वाम-भुजपंस्दन का भी उल्लेख किया है—

बाम बांह फरकत मिलै जो हरि जीवन मूरि ।

तौ तोहीं सों भेटिहीं राखि दाहिनी दूरि ॥ (५७२)

चिर समय के पश्चात् दो प्रिय व्यक्तियों के मिलन होने की स्वाभाविक अवस्था का वर्णन बिहारी ने किया है—

बिछुरे जिय संकोच इहिँ बोलत बनत न बैन ।

दोऊ दौरि लगे हिये किये लजौहैं नैन ॥ (५७८)

(विरह में पत्र-प्रेषण महत्वपूर्ण होता है बिहारी के पत्र का दर्शन कर लेना असंगत न होगा । नायिका स्वयं अपने विरह से नायक के विरह की अवस्था का अनुमान लगा रही है । अतः कहती है —

कागद पर लिखत न बनत कहत संदेश लजात ।

कहिहै सब तेरो हियो मेरे हिय की बात ॥ (६०)

बिना श्शक्षरों का पत्र भी विरह में भेज दिया जाता है, जिससे नायिका की अवस्था की सूचना के साथ नायक से कहा जाता है कि अपने दिल की बात लिखकर पढ़कर मेरे दिल की भी सोच लो ।

विरह बिकल बिनही लिखी पाती दर्ई पठाय ।

आंक विहीनीयौ सुचित सूनेँ बांचत जाय ॥ (५२६)

यह तो रही अङ्क-रहित पत्र की बात अब अङ्कों वाले पत्र की बात देखिए—
करलै चूमि चढ़ाय सिर उर लगाय भुज भेंटि ।

लहि पाती प्रिय की लखति बांचति धरति समेटि ॥ (६३५)

जायसी आदि की तरह बिहारी ने पत्र को जलाया भी है—

तर झरसी ऊपर गरी कज्जल-जल छिरकाइ ।

पिय-पाती बिनहीं लिखी बाँची विरह-बलाइ ॥ (३२८)

(बिहासि का विरह वर्णन व्यापक है, उन्होंने शास्त्रीय दृष्टि से भी विरह का वर्णन किया है । वियोग की पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण नामक चारों अवस्थाओं का वर्णन बिहारी ने किया है ।)

पूर्वराग :—

लाल तुम्हारे रूप की, कहौ रीति यह कौन ।

जासौँ लागत पलकु दृग लागत पलक पलौ न ॥ (३९८)

मान-प्रणय—

सतर भौंह, रूखे बचन, करति कठिनु मनु नीठि ।

कहा करौँ, ह्वँ जाति हरि हेरि हँसौँही डीठि ॥ (१०८)

पति-रितु औगुन-गुन बढ़तु मानु, माह कौ सीतु ।

जातु कठिन ह्वै अति मृदौ खनी-मनु नवनीतु ॥ (४१६)

अर्थात् 'पति और ऋतु के अवगुण (अपराध) तथा गुण (स्वभाव) से मान और माघ महीने की शीत वृद्धि होती है। उसके फलस्वरूप रमणी का मन तथा नवनीत जो प्रकृत्या कोमल हैं, निष्ठुर तथा कठोर हो जाते हैं।' बिहारी ने ईर्ष्या मान का वर्णन इस प्रकार किया है—

गह्यौ अबोलौ बोलि प्यो, आपुहिँ पठै बसीठि ।

दीठि चुराई दुहुन की, लखि सकुचौं ही दीठि ॥ (५९१)

प्रवास

प्रवास का वर्णन तीन रूओं में मिलता है—(१) प्रियतम की विदेश-गमन वेला का दुःखः, (२) प्रवासी की स्मृति-जन्य अनुभूति, (३) प्रवासी के लौटने पर मिलन की उत्सुकता, बिहारी में तीनों का वर्णन मिलता है। प्रथम का उदाहरण—

ललन-चलन सुनि चुपु रही, बोली आप न ईठि ।

राख्यौ गहि गाढ़ें गरें, मनो गलगली डीठि ॥ (४०८)

करुण

करी विरह ऐसी, तऊ, गैलन छाड़तु नीचु ।

दीनैं हूँ चरमा चखनु, चाहै लहै न मीचु ॥ (१४०)

वियोग की उपर्युक्त चार दशाओं के अतिरिक्त विरह की अन्य दस दशाओं का भी बिहारी ने वर्णन किया है—

१. चिन्ता—

देखत दुरै कपूर लौं उपै जाइ जिन, लाल ।

छिन-छिन जाति परी खरी छीन छबीली बाल ॥ (८९)

२. भमिलाषा—

तोही निरमोही लग्यौ मोही इहै सुभाउ ।

अनआए आवै नहीं आए आवतु आउ ॥ (३६)

३. स्मृति—

चितवनि भोरे भाइ की, गोरें मुँह मुसकानि ।

लागति लटक अली-गरें, चित खटकति नित आनि ॥ (३०५)

गुण-कथन—

लाल तुम्हारे बिरह की अगिनि अनूप अपार ।

सरसैं बरसैं नीर हूँ झर हूँ मिटै न झार ॥ (३९)

उद्देश—

ह्याँ तैं ह्याँ, ह्याँ तैं इहाँ नैकौं धरति न धीर ।
निसदिन डाढ़ी सी फिरति बाढ़ी गाढ़ी पीर ॥ (५२५)

प्रलाप—

कहै जु वचन वियोगिनी, बिरह बिकल बिललाइ ।
किए न को अँसुवा सहित, सुवा ति बोल सुनाइ ॥ (५३७)

उन्माद—

बिरह जरी लखि जीगननु कह्यौ न डहि कै बार ।
अरी आउ भजि भीतरी बरसत आजु अंगार ॥ (५९६)

व्याधि—

प्रिय-प्राननु की पाहरू, करति जतन अति आपु ।
जाकी दुसह दसा परयौ सौतिनिहूँ संतापु ॥ (२७८)

जड़ता—

कब की ध्यान-लगी लखौं, यह घर लगिहै काहि ।
डरियतु भृङ्गी-कीट लौं, मति वहई त्वै जाइ ॥ (५८६)

मरण—

कहा कहौं वाकी दसा, हरि प्राननु के ईस ।
विरह-ज्वाल जरिबो लखै मरिबौ भई असीस ॥ (११०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी ने विरह का व्यापक वर्णन किया है । विरह का शास्त्रीय-वर्णन भी उन्होंने किया है । किन्तु बिहारी का मन विरह की स्वाभाविकता एवं मार्मिकता की अपेक्षा चमत्कार का आग्रही अधिक रहा है । इसी चमत्कार-प्रियता के कारण उनका विरह प्रायः ऊहात्मक हो गया है । आचार्य शुक्ल ने जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका में बिहारी एवं जायसी से विरह वर्णन की तुलना करते हुए, जायसी के विरह-वर्णन की उत्कृष्टता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—“जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले, बोटल का गुलाब-जल सूखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक अंश पर जितनी दृष्टि रखी है उतनी उसकी बाहरी नाप-जोख पर नहीं जो प्रायः ऊहात्मक हुआ करती है ।”^१ आशय यह है कि बिहारी के विरह-वर्णन में अस्वाभाविकता की मात्रा अधिक है । लेकिन यह स्थिति सर्वदा नहीं रहती

है। कभी-कभी ऊहात्मक होते हुए भी दोहे मार्मिक होते हैं। उदाहरण के लिए यह दोहा देखा जा सकता है—

जदपि तेज रौहाल बल पलकौ लगी न बार ।

तौ ग्वेंडो घर को भयौ पेंडो कोस हजार ॥ (१४५)

“ऊहात्मक होने पर भी यह दोहा विरह-ताप की नाप-जोख करने वाले उदाहृत दोहों से भिन्न कोटि के प्रभाव की सृष्टि करता है, क्योंकि जिस प्रकार उन दोहों में ताप के स्थूल अभिधेय अर्थ को सिद्ध मानकर लुबें आदि चलाई गई हैं, उस प्रकार यहाँ घर की दूरी को हजार कोस बताकर भी उसके आधार पर यह नहीं कहा गया कि घर हजार कोस है, इसलिए आने में १० दिन लग गए। अतः इन शब्दों का प्रयोग अभिधापरक न रहकर लक्षणापरक हो गया। जिससे विलम्ब की असह्यता द्वारा द्योतित औत्सुक्य की व्यंजना निकलती है।”^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी ऊहा के चमत्कार के साथ कभी-कभी मार्मिकता को भी उत्पन्न करते हैं। क्योंकि बिहारी का व्यक्तित्व दो प्रकार का रहा है, उनका चमत्कार तथा उनकी भावुकता, उनका कलापक्ष तथा भावपक्ष, उनकी ऊहा तथा प्रेम की मार्मिकता। विरह वर्णन में भी उनका यह द्विविधामूलक स्वरूप उभर कर आया है—

“बिहारी की भी परम्परा के चक्कर में सच्ची काव्यानुभूति दब गई। उन्होंने कोई लक्षण-ग्रन्थ अवश्य नहीं लिखा, पर उनकी रचना है उसी लकीर को पीटने वाली। जहाँ वे परम्परा से अलग या परम्परा के भीतर भी उन्मुक्त हैं, उदार हृदय वृत्ति का परिचय देते हैं। बिहारी के ये दो रूप उनकी कविता भर में हैं।”^२

आशय यह है कि (चमत्कारवादी युग के कलाकार बिहारी ने अपने युग की भावना का सम्मान और उसको सन्तोष विप्रलम्भ शृंगार में भी दिया है। बिहारी के शृंगार में इन दोनों पक्षों को पर्याप्त स्थान मिला है किन्तु जो मार्मिकता, जो गम्भीरता और जो स्वाभाविकता सम्भोग शृंगार में है वह विप्रलम्भ शृंगार में नहीं है। इसका कारण उनका वैयक्तिक जीवन है। बिहारी का जीवन सुखमय व्यतीत हुआ था, विरह उनका अपना न था, सम्भोग का आनन्द स्वयं उन्होंने जमकर लिया था। परिणाम-स्वरूप उनके सम्भोग-शृंगार के वर्णन में मार्मिकता, नवीनता और स्वाभाविकता है, किन्तु विप्रलम्भ शृंगार में नहीं।)

१ बिहारी और उनका साहित्य पृ० १७६

२ विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : बिहारी की वाग्विभूति पृ० ११५

बिहारी की भक्तिभावना

रीतिकाल के कवियों का जब हम अध्ययन करते हैं, उस समय एक तथ्य बहुत ही अधिक स्पष्ट रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। वह यह है कि इस काल के कवि जहाँ एक ओर शृंगार रस में डुबकियाँ लगा रहे थे, वहाँ दूसरी ओर व कभी-कभी भगवान् का स्मरण भी कर लेते थे, जैसे आज के युग में व्यक्ति अपनी व्यस्तता में छल-प्रपंच से भरे हुए संसार में कभी-कभी मन्दिर आदि में जाकर दान-पुण्य भी कर लेता है और अपने किये हुए पापों का परिमार्जन कर लेता है। इसी भांति रीतिकालिक लौकिक-वासना-भूमि में विचरने वाले इन कवियों को जब भक्ति समीरण स्पर्श करता हुआ निकलता था, तो वे निश्चित ही उसमें पूर्णतः विगलित हो उठते थे। भले ही कुछ समय के बाद वे कवि अपने वास्तविक रूप में आ जाते हों। (डा० नगेन्द्र ने इसी बात को इस रूप में स्वीकार किया है। “वास्तव में यह भक्ति भी उनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी।”) जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे, तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आंचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी व्यक्ति भक्तिभावना से हीन नहीं है, हो भी नहीं सकता था; क्योंकि भक्ति उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक-रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था, कि भक्ति रस में अनास्था प्रकट करते या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसलिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य में भक्ति का आभास अनिवार्यतः वर्तमान है और नायक-नायिका के लिये बार-बार ‘हरि’ और ‘राधिका’ शब्दों का प्रयोग किया गया है।”^१

एक बात और है एक ओर तो रीतिकाल के इन कवियों के लिए भक्ति शरणभूमि थी, दूसरी ओर इन कवियों के समाज में स्थायित्व के लिए भक्ति का प्रमाण पत्र आवश्यक था, अतः वे परम्परा पालन के रूप में भी भक्ति को अपनाते थे। बिहारी भी इसी परम्परा-पालन तथा मानसिक शान्ति के लिए भक्ति का दामन पकड़ते हैं, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि जब बिहारी भक्ति का आंचल पकड़ते हैं तो वे भाव विगलित हो उठते हैं, उनका मन-मुकुर अधिक स्पष्ट हो उठता है “वे किसी

सम्प्रदाय विशेष के वाद में न पड़कर (अपने हृदय की ही अभिव्यक्ति देते हैं। उस अभिव्यक्ति में उनकी भावुकता, पश्चाताप, आत्म-निवेदन तथा उनका दैन्य उनकी प्रथम श्रेणी का भक्त सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है)। डा० बच्चन सिंह ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है—“हिन्दी साहित्य के भक्ति काल में भक्त कवियों ने भक्ति की जो मंदाकिनी बहाई उसके प्रखर स्रोत में मत मतान्तरों के क्षुद्र तृण ठहर न सके। तुलसी की सर्व-धर्म-समन्वय की धारणा तथा सूर की स्वच्छ असाम्प्रदायिक दृष्टि ने इस दिशा में जो स्तुत्य कार्य किया उसका इतना गम्भीर और व्यापक प्रभाव पड़ा कि साम्प्रदायिक विद्वेष की खाई सर्वदा के लिये पट गई। विभिन्न संप्रदायों में दीक्षित होने पर भी रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त कवियों ने किसी विशेष मत के प्रति आग्रह नहीं व्यक्त किया, प्रत्युत अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों द्वारा निर्दिष्ट सामान्य भक्ति मार्ग का ही अनुसरण किया”^१। बिहारी ने भी कृष्ण, राधा, राम, मुरारि आदि अनेक नामों से उसकी एक सत्ता के प्रति अपनी भावाभिव्यक्ति की है—राम की चारित्रिक विशेषताओं को कृष्ण के सम्बोधन के रूप में स्वीकार कर राम और कृष्ण में अभेद को स्वीकार किया है—

कौन भाँति रहि है विरदु अब देखिवी मुरारि ।

वीधे मोंसौं आइ कै गीधे गीधहि तारि ॥ (३१)

(उनके मत में तो प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न सम्प्रदायों में बँटकर विभिन्न उपास्यों को लेकर व्यर्थ ही विवाद करते हैं, वास्तव में सभी का एक मात्र सेव्य नन्द किशोर ही है—

अपने अपने मत लगे, बादि मचावत सोरु ।

ज्यौं-ज्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नन्द किसोरु ॥ (५८१)

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हिन्दी के भक्त कवियों को साम्प्रदायिक मतवाद से दूर माना है और वे लिखते हैं कि.....

“राम और कृष्ण में कोई भेद ये समझते ही न थे।^२ भगवान् की एक सामान्य भावना लेकर ही अपनी उक्तियाँ गढ़ा करते थे। यही कारण है कि “राम की लीला कृष्ण के नाम पर और कृष्ण की लीला राम के नाम पर कह देते थे। सूरदास और तुलसीदास ने भी ऐसा ही किया है।^३ निस्सन्देह बिहारी भी एक समन्वयवादी भक्त कवि थे, उन्होंने सदा ही साम्प्रदायिकता से ऊपर रहकर अपने भावों को व्यक्त किया है। वे आत्म विज्ञप्तियों से ऊपर थे। उनके दार्शनिक विचार

१ रीति कालीन कवियों की प्रेम व्यंजना : पृ० ४३

२-३ बिहारी की वाग्विभूति पृ० ११७

इतने व्यापक थे, कि प्रत्येक संत के विचारों से उनका सामंजस्य हो जाता है। एक गलदश्रु भक्त की भावना का उनमें साक्षात्कार हो जाता है, वे एक ओर निर्गुण भगवान् की प्रशंसात्मक स्तुति करते हैं -

दूरि भजत प्रभु पीठि दै गुन-विस्तारन-काल ।

प्रगटत निर्गुन निकट रहि चंगरंग भूपाल ॥ (४२८)

तो दूसरी ओर सगुण अवतारवादी भगवान् के गुणों पर भी वे आसक्त हैं—

मोह दीजै मोषु, ज्यों अनेक अधमनु दियौ ।

जो बांधे ही तोषु तौ बांधो अपने गुननु ॥ (२६१)

(बिहारी राम, कृष्ण, निर्गुण, सगुण सभी को स्वीकार करते हुए भी उनकी वृत्ति राधा-कृष्ण की भक्ति में अधिक रमी है। निस्सन्देह वे राधाकृष्ण के अनन्य उपासक थे, उन्हें राधा-वल्लभ सम्प्रदाय का अनुयायी भी सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

डा० रणवीर सिन्हा अपने शोध-प्रबन्ध में बिहारी को प्रभावित करने वाले तत्कालीन भक्ति और दर्शन के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखते हैं—

बिहारी सतसई का आरम्भ राधा की स्तुति से हुआ है। सतसई के प्रथम दोहे को मंगलाचरण के रूप में सभी प्रामाणिक सूत्रों ने स्वीकार किया है। कृष्ण तथा कृष्ण भक्ति सम्बन्धी दोहों की संख्या का अभाव बिहारी की सतसई में नहीं है, फिर राधा-भक्ति सम्बन्धी दोहे को ही आरम्भ में क्यों रखा गया? इस प्रश्न से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी लाल कृष्ण भक्ति के उस सम्प्रदाय के सदस्य थे, जिनमें राधा की प्रधानता थी। यह दोहा स्पष्टतः सिद्ध करता है कि बिहारी लाल को राधा की भक्ति में प्रगाढ़ श्रद्धा थी तथा भक्ति में वे राधा की प्रधानता को स्वीकारते थे। दोहे का भाव दृष्टव्य है—

मेरी भव-बाधा हरो, राधा नागरि सोइ ।

जा तन की झाँई परै, स्यामु हरित-दुति होइ ॥ ।

(१)

इस दोहे के भाव से स्पष्ट है कि कवि राधा का भक्त है। यदि ऐसा न भी माना जाय तब भी कवि की भक्ति में राधा की प्रधानता को स्वीकार करने वाला माना ही जायगा। राधा की प्रधानता में बिहारी विश्वास करते थे, इस बात की पुष्टि एक अन्य दोहे से भी होती है। जिसमें कृष्ण को राधा के चरणों पर लोटने वाला माना गया है—

मोर

वढ़ि कत करति गुमानु ।

लखिवी पाइनु पर लुठति, सुनियत राधा मानु ॥ (६७६)

इसके अतिरिक्त बिहारी के युग में माधुर्य-भक्ति का प्रचुर प्रचार था, उसमें राधा को आल्हादिनी शक्ति मानकर उपास्या माना गया है, राधावल्लभ सम्प्रदाय में रसिकोपासना का प्रचार है, तथा इस उपासना के मूल में प्रेमतत्त्व है। प्रेम को रस की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार रस-रूप भगवान् और परात्पर प्रेमतत्त्व में अभेद सम्बन्ध है। रसिकोपासना की प्रधानता होने के कारण राधाकृष्ण के नित्य बिहार स्थिति को अनिवर्चनीय तथा आनन्द उत्पन्न करने वाले रस की संज्ञा दी गयी है। प्रिया और प्रियतम के नित्य-विहार में जो आनन्द की प्राप्ति होती है, वही जीवन का लक्ष्य है। इस प्रेम रस की उपलब्धि ही रस-सम्प्रदाय की सफलता है। इस प्रेम-रस का पूर्णरूप बिहारी की सतसई में यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त विरह, मिलन और मान का इस सम्प्रदाय में महत्व विशेष है। राधा-कृष्ण साथ रहते हुए भी विरह की अनुभूति करते हैं। बिहारीलाल ने इस सूक्ष्म विरह का उल्लेख किया है—

त्यों-त्यों प्पासेई रहत, ज्यों-ज्यों पियत अघाइ ।

सगुन सलोने रूप की जु न चख-तृषा बुझाइ ॥ (४१७)

((बिहारी के काल में रसोपासना प्रचलित थी। “भक्ति और दर्शन के क्षेत्र में नायिका-भाव, सखी-भाव तथा नारी भावना का ही प्राधान्य था।” बिहारी ने भी अपनी सतसई में इन सभी को स्थान दिया है।) राधा और कृष्ण का प्रेम परकीया भाव में समाहित किया जा सकता है। यद्यपि सामाजिक दृष्टि से यह प्रेम गर्हित था, किन्तु इस काल के अनेक कवि और दार्शनिकों ने इस प्रेम भावना की दार्शनिक व्याख्या कर उसे ग्राह्य बनाया। स्वकीया प्रेम के मूल में भी परकीया प्रेम को माना तथा परकीया प्रेम से उत्कृष्ट माना। सहजिया सम्प्रदाय के आचार्यों ने परकीया प्रेम के मूल में जिन तथ्यों को स्वीकार किया है, उनका उल्लेख डा० रणवीर सिन्हा ने इस रूप में किया है—

१. परकीया के प्रति, निरन्तर प्राप्ति के अभाव में, जिज्ञासा-भाव अधिक होता है, अतः परकीया प्रेम में आकर्षण और शक्ति अधिक होती है।
२. स्वकीया का प्रेम विवाह के पूर्व परकीया-प्रेम रहता है। परकीया (कुमारी) से ही स्वकीया बनती है। फलतः स्वकीया-प्रेम परकीया-प्रेम से उद्भूत है।
३. स्वकीया-प्रेम में स्वेच्छा का अभाव भी होता है, समाज तथा परिवार के दबाव से भी स्वकीया-प्रेम का प्रदर्शन करती है, किन्तु परकीया-प्रेम नितान्त ही स्वेच्छा से उत्पन्न होता है, जिसमें भय और बल का प्रभाव नहीं रहता।

४. स्वकीया का प्रेम-मार्ग बाधा रहित है किन्तु परकीया का प्रेम-मार्ग बाधायुक्त है। परकीया कठिन प्रेम की परीक्षा देती है तथा लोक-लाज, भय, संकोच का त्याग कर केवल प्रेम के वशीभूत रहती है। परकीया का त्याग अपेक्षाकृत अधिक है।
५. परकीया-प्रेम में आनन्द की मात्रा अधिक होती है। बाधाओं के उपरान्त मिलन की प्राप्ति से परकीया-प्रेम अधिक आनन्ददायक बन जाता है।
६. स्वकीया-प्रेम निरन्तर के सम्पर्क से शीतल हो जाता है तथा एकरसता के कारण उससे मन ऊबने लग जाता है। वैवाहिक प्रेम में प्रेम अवरुद्ध हो जाता है, जबकि परकीया प्रेम चिर प्रवाहमान है।
७. परकीया-प्रेम में अधीरतापूर्ण माधुर्य है। विरह में व्याकुलता है। प्रतीक्षा का अधिक व्याघ्रक स्वरूप है किन्तु स्वकीया-प्रेम में प्रतीक्षा का रूप नहीं है।
८. परकीया-प्रेम में समर्था-रति का समावेश है, जो उत्तम-रति है। कृष्ण साधारणी रति से प्रेम कुब्जा से करते हैं, रानियों से सामंजसा-रति से प्रेम करते हैं तथा गोपिकाओं से समर्था-रति से प्रेम करते हैं। इनमें समर्था-रति का प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। गोपिकाएँ परकीया-प्रेम की प्रतीक हैं।
९. निरन्तर के साहचर्य से स्वकीया-प्रेम में राग की अतिशयता हो जाती है। वैधानिक तथा सुलभ साहचर्य नियंत्रण में नहीं रहता, किन्तु परकीया प्रेम में काम की अतिशयता नहीं हो सकती क्योंकि परकीया का साहचर्य सदैव सुलभ नहीं होता। परकीया का साहचर्य अवसरों पर ही प्राप्त होता है, अतः उसमें काम की अतिशयता नहीं रहती। इस प्रकार स्वकीया नायिका से काम का सम्बन्ध अधिक हो सकता है, किन्तु परकीया नायिका काम का अधिक सम्बन्ध नहीं स्वीकार कर सकती।”^१

(बिहारी के युग की भक्ति में नायिका भेद को भी स्थान मिल गया था, रसोपासना के योग से इस पद्धति को विशेष प्रचार भी मिला भक्ति में नायिका-भेद को क्यों स्थान मिला? क्यों उसका प्रचार हुआ? इसके तीन कारण हैं “(१) कृष्ण भक्ति में गोपिकाओं तथा राधा के कारण नायिका-भाव की स्थापना बहुत पहले से चली आ रही थी। (२) रसोपासना के मार्ग का अनुसरण करने वाले आचार्यों ने आध्यात्म को अपना क्षेत्र मानकर इसे नारी भाव का उत्कृष्ट परिचायक माना। (३) शृंगार की प्रधानता समाज, जीवन तथा युग सभी स्थानों पर होने के कारण शृंगारिक भक्ति के लिए इसे आवश्यक और उपयुक्त समझा गया।”^२ इन कारणों से

१. कविवर बिहारीलाल और उनका युग पृ० १८०-१८१

२. कविवर बिहारीलाल और उनका युग पृ० १८३

भक्ति में नायिका भेद को स्थान मिला, इस परम्परा का रूप हरिवंश-पुराण, पद्म-पुराण, विष्णु पुराण, भागवतपुराण, ब्रह्म-वैवर्त-पुराण, आदि में मिलता है। इस धारणा के प्रचुर प्रचार में रूप गोस्वामी ने महत्वपूर्ण कार्य किया। “रूप गोस्वामी ने नायिका-भेद की धारा को कृष्ण-केलि-वर्णन की पौराणिक एवं काव्यमय धारा से मिलाने का कार्यकर भक्ति परम्परा को नयी दिशा ही प्रदान की। अपने ग्रन्थ “उज्ज्वल नील मणि” में उन्होंने भक्तिरस की कल्पना की तथा उसे शृंगार रस का पोषक मानते हुए रस की दृष्टि से भक्ति को आँका। उन्होंने कृष्ण को नायक तथा उनकी वल्लभाओं का नायिकाओं के रूप में वर्णन किया। उनके नायिका-भेद में तीन प्रमुख विशेषतायें हैं। (१) गणिका के कथन का अभाव, (२) मुग्धा और प्रगल्भा भेदों का परकीया के अन्तर्गत कथन तथा (३) विभिन्न प्रकार की नायिकाओं के रूप में विभिन्न गोपियों का नामाल्लेख। ब्रजभाषा के नायिका-भेद सैम्बन्धी विशाल साहित्य का समय, रूपगोस्वामी के काल के आसपास से ही प्रारम्भ होता है।”^१ केशव के परवर्ती कवियों ने तो इसमें एक विशेष बात की, वह यह थी कि ‘प्रत्येक नायिका की कृष्ण की ही प्रेयसी के रूप में चित्रित करने के आग्रह को छोड़कर उन्होंने ‘सामान्या’ का भी यथावसर यथोचित वर्णन किया।^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारीलाल के युग में भक्ति का रूप रूपान्तरित हो रहा था, उसको उन्होंने स्वीकार किया तथा तदनु रूप उसकी अभिव्यक्ति की, निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि बिहारी के साहित्य में नारी भावना, नायिकाभाव तथा शृंगारिक तत्वों का जो उन्मेष हुआ है, वह युग की आवश्यकता थी, उसके पीछे एक विशाल पृष्ठभूमि थी, उन सभी का समन्वित प्रभाव बिहारी के साहित्य और उनकी भक्ति-भावना पर पड़ना स्वाभाविक था और वह पड़ा। युग की इस धार्मिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने भी उसके विकास में योग दिया। इसीलिए उनके साहित्य में जो भक्ति मिलती है, वह डा० नगेन्द्र के शब्दों में— उनकी शृंगारिकता का ही एक अंग थी।”^३ इसे हम बिहारी की शृंगारिता कहें अथवा युग की शृंगारिता अथवा भक्ति की दार्शनिक व्याख्या कर इसे महत्व की वस्तु सिद्ध करें। इतना तो निश्चित ही है कि वे किसी सम्प्रदाय विशेष में आवद्ध नहीं हैं।

(बिहारी भक्त थे, बिहारी ने अन्य सन्त भक्तों की भाँति संसार की नैवेरता:—
में समुझ्यो निरधार, यह जगु काँचो काँच सौ।

एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ ॥ (१८१)

१. कविवर बिहारीलाल और उनका युग पृ० १८४

२. कविवर बिहारीलाल और उनका युग पृ० १८४

३. रीतिकाव्य की भूमिका पृ० १८०

और विषय-वासनाओं की हेयता:—

जमकरि मुँह तरहरि पर्यौ इहि धरि हरि चितलाउ ।

विषय-तृषा परिहरि अजौ नरहरि के गुन गाउ ॥ (२१)

बाह्याचार का निषेध:—

जपमाला छापैं तिलक सरै न एकौ कामु ।

मन काँचै नाचै वृथा साँचै राचै रामु ॥ (१४९)

भी किया है । बिहारी ने नारी की मोहनी मूर्ति की निन्दा भी:—

या भव पारावार कौं उलधि पार को जाइ ।

तिय-छवि-छाया ग्राहिनी ग्रसै बीच हीं आइ ॥ (४३३)

कबीर की ही भाँति की है (संत कवियों की भाँति बिहारी भक्ति के क्षेत्र में आचरण की पवित्रता के प्रबल समर्थक हैं । जब तक मन पवित्र नहीं है, तब तक भगवान् की प्राप्ति कैसे सम्भव है—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं किहि बाट ।

बिकट जटे जौं लो निपट खुटें न कपट-कपाट ॥ (३६१)

एक भक्त में मिलने वाले समस्त तत्त्व बिहारी के दोहों में प्राप्त हैं । बिहारी की भक्ति में तुलसी का गलदश्रु वाला रूप भी विद्यमान है । तुलसी जैसी दीनता भी यत्र-तत्र मिल जाती है । उदाहरण के लिए निम्न दोहे प्रस्तुत हैं—

यह बरिया नहिँ और की, तू करिया वह सोधि ।

पाहन-नाव चढ़ाइ जिहि कीने पार पयोधि ॥ (४०१)

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि ।

मनौ तज्यौं तारन-विरदु बारक बारनु तारि ॥ (११)

कबकौ टेरतु दीन रट होत न स्याम सहाइ ।

तुमहू लागी जगत-गुरु, जग-नाइक जग-बाइ ॥ (७१)

(सूर की भाँति बिहारी भी अपने आराध्य के निकट पहुँचकर मंहुलगे भक्त बनकर स्पर्धा हास-परिहास की सीमा तक पहुँच जाते हैं—

मोहि तुम्हें बाढी बहस को जीतै यदुराज ।

अपने-अपने विरद की दुहुँन निबाहन लाज ॥ (४२७)

करौ कुबत जगु कुटिलता, तजों न दीनदयाल ।

दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगीलाल ॥ (४२५)

कौन भाँति रहिहै विरदु अब देखिबी मुरारि ।

बीधे मौंसो आइकै गीधे गीधहि तारि ॥ (३१)

(बिहारी की भक्ति में तुलसी की सामाजिकता की अपेक्षा सूर की वैयक्तिकता अधिक थी, इसीलिए कभी-कभी बिहारी सूर की भांति मुखरित भी हो उठते हैं) “बिहारी की भक्तिभावना तुलसी की भांति सामाजिक न होकर सूर की भांति वैयक्तिक थी। आराध्य के प्रति उनकी मुखरता का रहस्य यही व्यक्तिगत सम्पर्क प्रतीत होता है।”^१

(बिहारी पर सम्भवतः सखी सम्प्रदाय का भी प्रभाव था, इसीलिए वे सखी-भाव से प्रेरित होकर भी लिखते हैं—)

चिरजीवौ जौरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर ।

को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥ (६७७)

(पुष्टि सम्प्रदाय में भक्ति की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही सम्भव है। बिहारी की भक्ति में भी ईश्वर के अनुग्रह को महत्व दिया गया है। बिहारी सूर-तुलसी की भांति भगवान् के आश्रय में पड़े रहने में ही अपने को धन्य समझते हैं—

हरि कीजत तुमसौं इहै बिनती बार हजार ।

जिहिं तिहिं भांति डर्यौ रह्यौ पर्यो रह्यौ दरबार ॥ (२४१)

हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में आत्म निवेदन का विशेष महत्व है, रीतिकालीन कवियों ने भी युगानुरूप आत्मनिवेदन किया है, किन्तु उसमें भक्तों की आत्म-विस्मृति नहीं है—फिर भी उनकी भावभूमि दर्शनीय है—

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-द्युति करि अनुराग ।

जिहिं ब्रजकेलि-निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग ॥ (२०१)

बिहारी की भक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने लिखा है —

“भक्ति के शुष्क प्रतिपादन में ही नहीं, उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति में भी बिहारी किसी भक्त कवि से पीछे नहीं कहे जा सकते। जब वे आराध्य के सम्मुख उपस्थित होते हैं, तो उनका हृदय भक्ति की अनुभूति से ओत-प्रोत हो जाता है और वे एक भोले बालक की भांति अपने पतितपावन के साथ बातचीत करने लगते हैं, ऐसे अवसरों पर उनकी दैन्यता की भावना शत-शत शब्दों में मुखरित हुई है।…… सचमुच बिहारी के उपरोक्त दोहों में वह गलदश्च भावुकता मिलती है, जो उनकी भक्ति-भावना का गहरा रूप प्रकट करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि बिहारी के समस्त साहित्य को न पढ़ा जाय और अपने अध्ययन को केवल इन्हीं दोहों तक सीमित रखा जाय, तो हमें पूरा विश्वास हो जाता है कि बिहारी उच्चकोटि के भक्त कवि

थे। किन्तु उनके साहित्य में एक दूसरा रूप भी मिलता है, जो हमारे इस विश्वास में बाधक सिद्ध होता है।^१ लेकिन डा० गुप्त के विश्वास में बाधक तत्त्व पर यदि विचार किया जाय तो उसके मूल में भक्ति का वह दार्शनिक पक्ष है, जिसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। बिहारी के दोहों में विद्यमान रसिकता और शृंगारिकता का जो उन्मेष हुआ है, उसके मूल में रसिकोपासना, नायिका भेद तथा परकीया प्रेम है। इसीलिए हम देखते हैं कि बिहारी ने अपनी सतसई में कृष्ण का सौन्दर्यपरक चित्रण किया है, उनकी भाव-भङ्गिमाओं का बाँका अंकन किया है। कृष्ण का भ्रुकुटि-संचालन, उनके वस्त्रों का आकर्षण, उनकी लचकती पदगति, उनकी चितवन जहाँ भक्तों के हृदय की हार है, वहीं साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य की चरमोत्कर्षी अभिव्यक्ति है—

भ्रुकुटि मटकनि, पीतपट-चटक, लटकती चाल ।

चलचख-चितवनि चोरि चितु लियौ बिहारीलाल ॥ (३०२)

बिहारी ने भी आनन्द बिहारी से सरपर मोर-मुकुट, कटि में काछनी, कर में मुरली, उर पर वनमाला धारण कर मन में बसने का आग्रह किया है।—

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उरमाल ।

यहि बानक मो मन बसो सदा बिहारी लाल ॥ (३०१)

कृष्ण का दिव्य सौन्दर्य रसिकों के हृदय का यदि हार है तो वह भक्तों के लिए भी अलौकिक आनन्द-भूमि है। इसी रूप की प्रतिभाएँ आज वृन्दावन के अनेक मन्दिरों में स्थापित हैं, जिन्हें देखकर भक्त-भाव विभोर हो उठते हैं। राधा भी अनिर्वचनीय सौन्दर्य-राशि लेकर कृष्ण के साथ रहती है। इस युगल रूप के दर्शन के लिए भक्त लालायित रहते हैं—

नितप्रति एकत ही रहत, बैस-बरन-मन एक ।

चहियत जुगल किसोर लखि, लोचन-जुगल अनेक ॥ (२३८)

आशय यह है कि बिहारी के साहित्य को पढ़कर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाते हैं कि बिहारी ने अपनी सतसई का “करी बिहारी सतसई, भरी अनेक स्वाद”। अनेक भावों से भरपूर निर्माण किया है, उनकी सतसई के सात सौ दोहों में निश्चित ही लगभग सौ दोहे स्पष्ट रूप में उनकी भक्ति के परिचायक हैं, तथा दोहों में जो शृंगारी भावनाओं को व्यक्त करने वाले अनेक दोहे हैं, वास्तव में वे युग की भक्ति-भावना तथा धार्मिक परिवेश से प्रभावित हैं। तत्कालीन भक्ति तथा दर्शन के तत्त्व उन दोहों के मूल में हैं। बिहारी शृंगारी होते हुए भी भक्त थे, उनकी भक्ति के

दोहे अनुभूति पूर्ण हैं। बिहारी और उनका साहित्य के लेखक-द्वय लिखते हैं—“बिहारी उच्चकोटि के सहृदय कवि थे, जिनकी रचनाओं में विविध भावों की मनो मोहिनी अभिव्यक्ति हुई है। उनका वर्ण्य-विषय प्रधानतया शृंगार अवश्य है, परन्तु सच्चे हृदय से निकली हुई भक्ति भाव उक्तियाँ भी उनकी रचनाओं में अवलोकनीय है।”

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि बिहारी किसी सम्प्रदाय विशेष में आबद्ध नहीं थे, किन्तु राधा-बल्लभ, सहजिया, सखी आदि सम्प्रदायों के तत्त्व उनमें सहज ही देखे जा सकते हैं, किन्तु भक्ति का अपना रूप उनमें सुरक्षित है। उनमें भक्तों की अनुभूति, तन्मयता, उपालम्भ, दैन्य और शरणागति आदि तत्त्व भी विद्यमान हैं। उनकी भक्ति तत्कालीन मान्यताओं से अनुप्राणित है। इसीलिए उनके साहित्य में शृंगार, नारी भावना, नायिका-भाव तथा रसोपासना वाला रूप भी सहज ही प्राप्त है।

२०

बिहारी सतसई में नीति

बिहारी बहुज्ञ—कवि थे। कवि क्रान्तिदर्शी होता है, वह समाज का पथ प्रदर्शक होता है। बिहारी क्या क्रान्तिदर्शी थे? उन्होंने समाज में क्या क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित की थी, इस बात का उत्तर प्रायः नकारात्मक ही है फिर भी बिहारी ने समाज एवं देश के कल्याण के लिये बहुत कुछ किया था। जयसिंह और बिहारी के सम्बन्ध में एक कथानक प्रसिद्ध है। उस ऐतिहासिक कथानक के मूल में ही उनका व्यक्तित्व, उनकी प्रतिभा और उनका कवि-रूप अन्तर्निहित है। निश्चित है उस रूप में वह क्रान्तिदर्शी है, उन्होंने समाज एवं राष्ट्र के विधायक को जाग्रत किया था। इस प्रकार बिहारी भी नीति के उपदेशक और शिक्षक के रूप में हमारे सामने आते हैं। वैसे वर्ड्सवर्थ के अनुसार प्रत्येक महान कवि शिक्षक होता है :—

Every great poet is a teacher.

बिहारी ने अपनी सतसई में अपने जीवन के अनुभवों के आधार पर, शास्त्र ज्ञान के आधार पर और अपनी प्रतिभा के बल पर व्यवहार ज्ञान के लिए अनेक दोहे लिखे हैं। इस प्रकार के नीति-विषयक बिहारी के दोहों का क्षेत्र व्यापक है, धर्म, राजनीति, समाज, व्यवहार, व्यापार, भक्ति वैराग्य, सत्संग, स्त्री, कपट,

आडम्बर, धन आदि से सम्बद्ध पचासों नीति विषयक दोहे सतसई में मिल जाते हैं। इन दोहों में उनका असौम ज्ञान, लोक-दर्शन, और अनुभूति समाहित है। डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने ठीक ही लिखा है—

“बिहारी के ये दोहे गहन अनुभूति के भण्डार हैं और इनमें लोक एवं शास्त्र का समन्वित ज्ञान भरा हुआ है।”

बिहारी जीवन के सम्बन्ध में कहते हैं कि सुख तथा दुःख में अपने को भूलना नहीं चाहिये, यह क्षणिक हैं। दुःख में गम्भीर श्वासों तथा सुख में उन्मत्त होना उचित नहीं है, दुःख और सुख भाग्य और परमात्मा की देन हैं।

दीरघ सांस न लेहु दुःख सुख साईं हि न भूल।

दर्द दर्द क्यों करत है दर्द दर्द सु कबूल ॥ (५१)

बाह्याडम्बरों का विरोध करते हुए बिहारी मन को वश में कर भगवान् को प्रसन्न करने का आग्रह करते हैं :—

जप माला छापै तिलक सरै न एकौ काम।

मन कांचे नाचै वृथा सांचै राचै राम ॥ (१४१)

भगवान् की भक्ति में कपट सबसे अधिक बाधक है, अतः व्यक्ति को निष्कपट, शुद्ध और पवित्र बनना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार पूर्णतः बंद द्वार वाले भवन में प्रवेश पाना कठिन होता है उसी भांति कपट-युक्त हृदय में भगवान् का प्रवेश असम्भव है :—

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवैं किहि बाट।

विकट जुटै जौ लगु निपट खुटै न कपटकपाट ॥ (३६१)

सम्पत्ति के सम्बन्ध में बिहारी ने बहुत ही मार्मिक और महत्वपूर्ण बातें कही हैं। बिहारी कहते हैं कि सम्पत्ति और वैभव की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के मन एवं उल्लास की वृद्धि होती है। किन्तु घटने पर उसका समूल विनाश भी होता है :—

“बढ़त बढ़त सम्पत्ति-सलिलु, मन-सरोजु बड़ि जाइ।

घटत-घटत सुन पुनि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ ॥ (३३१)

सम्पत्ति मादक होती है, बाणभट्ट और भट्ट हरि ने इसका सुन्दर वर्णन किया है। बिहारी का कहना है कि सम्पत्ति में धन से अधिक मादकता होती है, क्योंकि एक को खाने पर मादकता आती है, और दूसरे के पास आते ही :—

कनकु कनकु तैं सौगुनी मादकता अधिकाइ।

उहिं खाएँ बौराई जगु, इहिं पाएँ बौराइ ॥ (१९२)

बिहारी धन के महत्व तथा उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण

तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं कि धन मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उपयोग के लिए है संचय के लिये नहीं। उसका संचय तभी उचित है जब वह आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् शेष रहे—

मीत न नीति गलीतु ह्वै जो धरियै धनु जोरि ।

खाएँ खरचें जौ जुरे, तो जोरिये करोरि ॥ (४८१)

बिहारी बातें बनाने वाले चापलूस तथा मक्खनबाजों के लिये भी कह गये हैं कि यदि आप में गुण नहीं है तो अपने महत्व का डंका न पीटिये—क्योंकि धतूरा कनक कहलता है, किन्तु उससे स्वर्णभूषणों का निर्माण नहीं किया जाता। इसी प्रकार बड़ा नाम रखने से आप महत्वपूर्ण नहीं होंगे :—

बड़े न हूँ गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाइ ।

कहत धतूरे सौं कनक गहनौ गढ्यौ न जाइ ॥ (१९१)

बड़ा बनने के लिये गुणों का आकलन करना चाहिये केवल स्पर्धा ही आपको महान् नहीं बना सकती :—

गुनी गुनी सबकैं कहैं निगुनी गुनी न होतु ।

सुन्यौ कहूँ तरु अर्क तैं अरक समान उदोतु ॥ (३५१)

सहृदयपूर्ण बनने के लिये विनय नितान्त अपेक्षित है, मिथ्याडम्बर एवं मक्खन-बाजी ही पर्याप्त नहीं है :—)

औछे बड़े न ह्वै सकैं लगौ सतर ह्वै गैन ।

दीरघ होंहि न नैक हूँ फारि निहारे नैन ॥ (५९०)

विनय की प्रशंसा करते हुए बिहारी लिखते हैं कि :—

नर की अरु नल नीर की गति एकै करि जोई ।

जे तो नीचौ ह्वै चले ते तो ऊंचौ-होई ॥ (३२१)

मित्रता की सफलता के लिये बिहारी कहते हैं कि क्रोध को पास नहीं आने देना चाहिये, क्रोध की धूल स्नेह को मलीन कर देती है :—

जो चाहत, चटक न घटै, मैलौ होइ न, मित्त ।

रज राजसु न छुवाइयै, नेह चीकने चित्त ॥ (३९६)

बिहारी संगति और कुसंगति के बारे में कहते हैं कि जो व्यक्ति बुरे होते हैं वे सज्जनों के समीप रहकर भी सुबुद्धि प्राप्त नहीं कर सकते; जैसे हींग को यदि कपूर के साथ मिलाकर रख दिया जाय तो वह अपनी गंध की तीव्रता को नहीं छोड़ती :—

संगीत सुमति न पावहीं, परे कुमति कै धंध ।

राखौ मेलि कपूर मैं हींग न होत सुगंध ॥ (२२८)

इसी प्रकार जो महान् हैं उनके गुणों को यदि तुच्छ बुद्धि स्वीकार नहीं करते तो उनकी महत्ता और गुणों में कोई अन्तर नहीं आता, जैसे पीनस वाला यदि कपूर की सुगन्धि सूघने में असमर्थ होकर उसे शोरा समझ ले तो क्या कपूर की शीतलता और सुगन्ध कम हो जायेगी—

शीतलता अरु सुगन्ध कौ, घटै न महिमा मूर ।

पीनस वारैं जौ तज्यो सोरा जानि कपूर ॥ (५९)

बिहारी की सतसई इस प्रकार के नीति वाक्यों एवं दोहों से भरपूर है । बिहारी अन्योक्ति परक दोहों के माध्यम से ज्ञान का अपार भण्डार इस सतसई में समाहित करने में समर्थ हुए हैं । एक-एक अन्योक्ति परक दोहा बहुमूल्य रत्न के समान है । जिस रत्न की चमक शताब्दियों तक कभी धुंधली पड़ने वाली नहीं है । बिहारी के नीतिपरक दोहे निसन्देह 'अक्षर-कामधेनु' हैं ।

२१

बिहारी का प्रकृति-चित्रण

(बिहारी ने प्रकृति-चित्रण में प्रकृति को उद्दीपन रूप में विशेष रूप से प्रस्तुत किया है । संयोग की अपेक्षा वियोग में प्रेमीजन बाह्य संसार की ओर अधिक दृष्टिपात करते हैं, अतः बिहारी के अधिकांश दोहों में वियोगियों की दृष्टि से ही वर्णन हैं, किन्तु संयोगपरक प्रकृति का भी अभाव नहीं है ।)

(प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत बिहारी पर षट्ऋतु वर्णन का पूरा-पूरा प्रभाव देखा जा सकता है । बिहारी-सतसई में षट्ऋतु वर्णन विषयक अनेक दोहे प्राप्त हैं उदाहरण के लिये—

वसन्त ३८८, ४७५, ४७६ तथा ४९६, ग्रीष्म ४८८ तथा ४८९, वर्षा ४०२, ४०४, ४८५, ४८६, ५४९ तथा ५६२, शरद ४८७, हेमन्त ४९२ तथा ४९८, शिशिर ३४४ आदि दोहों को देखा जा सकता है ।

(वसन्त का वर्णन सर्वथा उद्दीपन-परक है, वियोगिनी सर्वत्र विकसित पुष्पों को देखकर कहती है कि आज वन-उपवन की प्रत्येक दिशा फूलों से भरी हुई दृष्टिगत हो रही है, इन्हें देखकर ऐसा लगता है, कि मानों ऋतुराज वसन्त ने किसी वियोगिनी को दण्ड देने के लिये शर-पिंजर बनवाया हो—)

दिसि-दिसि कुसुमित देखियत उपवन-विपिन-समाज ।

मनहुं वियोगिनु कौ कियौ सर-पंजर ऋतुराज ॥ (४७६)

ग्रीष्म, वर्णन करते हुये बिहारी की दृष्टि उद्दीपनपरक ही है, कवि मध्यान्ह की तीव्र लपटों के चलने का वर्णन करते हुये लिखता है कि न तो यह प्रचण्ड ज्वाला है और न ही चारों ओर लू चल रही है, अपितु ऐसा लगता है कि मानों प्रियतम वसन्त के विरह में ग्रीष्म-रूपी-प्रेयसी उच्छ्वास ले रही है—

नांहिनु ए पावक-प्रबल लुवै चलैचहुं पास ।

मानहुं बिरह बसन्त कै ग्रीष्म-लेत उसास ॥ (४८८)

(वर्षा वर्णन भी उद्दीपनकारी है, वियोगिनी वर्षा के बादलों को देखकर कहती है कि हे सखि ! यह पावस के बादल नहीं हैं अपितु चारों दिशाओं में पृथ्वी पर अंधकार फैल गया है । उसे देखकर कल्पना करती है कि यह वर्षा-काल का प्रथम मेघ सारे संसार को जलाता चल आ रहा है —

धुरवा होंहि न, अलि उठै धुआँ धरनि-चहुंकोद ।

जारत आवत जगत कौ पावस-प्रथम पयोद ॥ (५४९)

शरद वर्णन में भी बिहारी ने उद्दीपनपरक प्रकृति अपनाई है । कवि शरद को नायिका के रूप में कल्पित कर वर्णन कर रहा है यह शरद ऋतु-रूपी-सुन्दरी समय-समय पर आकर अपने लाल-लाल कमल रूही हाथों और चरणों, खंजन-पक्षी रूपी नेत्रों तथा चन्द्रमा रूपी मुख से किसे आनन्दित नहीं करती—

अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन, मुखचंद ।

समै आइ सुन्दरि सरद, काहि न करति अनंद ॥ (४८७)

बिहारी हेमन्त की रात्रि का वर्णन करते हुये लिखते हैं कि जैसे-जैसे रात्रि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे विभिन्न घरों में नायक नायिकाओं के सुख (रति भोग के कारण) और चक्रवाक के दुख को यह हेमन्त ऋतु अनन्त बनाती है—

ज्यों-ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों-त्यों बढ़त अनंत ।

ओक ओक सबलोक-सुख, कोक-सोक हेमन्त ॥ (४९२)

(शिशिर वर्णन करते हुये भी कवि ने उद्दीपन की ओर ध्यान रखा है, कभी संयोगिनी को उद्दीप्त करते हैं तो कभी वियोगिनी को ।

एक उदाहरण—कवि शीत की तीव्रता के सम्बन्ध में कहता है कि सूर्य के आतप, आग की ऊष्मा और रुई के लिहाफों में भी यह शीत का कम्प किसी प्रकार नहीं मिटता । बिना नायिका से आलिंगन किये नायक का शीत दूर नहीं होता—

तपन-तेज, तप-ताप तपि, अतुल तुलाई माँह ।

शिशिर-सीतु क्योंहुँ न कटै, बिनु लपटैतिय नाँह ॥ (३४३)

बिहारी के षट्ऋतु वर्णन के आधार पर डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने ये दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं—(१) बिहारी को सबसे अधिक प्रिय वसन्त वर्णन है उसके पश्चात् वर्षा-वर्णन । शेष ऋतुओं का वर्णन संख्या पूरी करने के लिये है । (२) ऋतुओं का बिहारी ने नामोल्लेख किया है जो कि परम्परा का प्रभाव सिद्ध करता है ।

बिहारी ने प्रकृति वर्णन में षट्ऋतु वर्णन के अतिरिक्त बारहमासा वर्णन की परम्परा का भी निर्वाह करने का प्रयास किया है । किन्तु उनका यह वर्णन पूर्ण नहीं है । कुछ मासों को लेकर ही बिहारी दोहे लिख सके हैं ।

चैत्र वर्णन करते हुये कवि लिखता है कि प्रियतम के विरह में नायिका के लिये समय ऐसा हो गया है कि उसे सुखद पदार्थ भी दुःखदायी हो गये हैं । चैत्रमास के चन्द्रमा की चांदनी विरह व्यथा को अधिक करती हुई उसे अचेत किये ढाल रही है—

भौ यह ऐसोई समौ, जहाँ सुखद दुखु देत ।

चैत-चाँद की चाँदनी, डारति कि अचेत ॥ (५१९)

जेष्ठ मास का वर्णन करते हुये बिहारी की अपनी उक्ति है कि जल खोजकर लौटे हुये जेठ के प्यासे मारवाड़ी मारवाड़ में दोपहर में तबूज को पाकर उसे ही क्षीर-सागर कहते हैं—

प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जलु सोधि ।

मरुधर पाइ-मतीरु हौं मारु कहत पयोधि ॥ (३६६)

इसी प्रकार जेठमास की दुपहरी का भी कवि ने वर्णन बावनवें दोहे में किया है ।

सावन का वर्णन भी है—षितपतिका नायिका अपनी सखी से कहती है कि अब तक तूने अनेक उपाय कर लिये बस अब रहने दे, क्योंकि अब सावन का मास आ गया है और कदम्ब के फूलों की सुगन्ध से कुशल नहीं है—

अब तजि नाउँ उपाव कौ, आए (पावस) मास ।

खेलु न रहिबौ खेम सौं केम-कुसुम की बास ॥ (६७२)

अगहन मास का बिहारी ने श्लेषपरक वर्णन किया है । एक पक्ष में सीधा अगहन मास के पक्ष में अर्थ बैठ जाता है जितने न जीते जाने योग्य प्राणी थे उन सबको जीतकर समस्त जगत को कामवश कर दिया है । अगहन ऐसा महीना है कि कामदेव को हाथ में धनुषबाण ही नहीं लेने देता—

कियौ सबै जगु कामबस, जीतेजितै अजेइ ।

कुसुमसरहिं सर-धनुषकर, अगहन गहन न देइ ॥ (४९५)

पौष मास का वर्णन करते हुये कवि कहता है कि आते जाते कुछ पता नहीं चलता । सूर्य अपने तेज को छोड़कर ठंडा हो गया है । पूस के दिनों का मान इस तरह घट गया है, जैसे ससुराल में रहने वाले दामाद का मान घट जाता है—

आवत जात न जानियतु तेजहिं तजि सियरानु ।

घरहँ जवाई लौ घट्यौ खरौ पूस-दिन-मानु ॥ (१७१)

कवि माघमास के सुखद सूर्य का वर्णन करते हुये कहता है कि सुन्दर शीतल किरण के स्पर्श से रात्रि का सा सुख दिन ही में पाकर माघ मास में; चन्द्रमा के भ्रम से चकोरी सूर्य की ओर देखा करती है—

लगत सुभग सीतल किरन, निसि-सुखदिन अवगाहि ।

माह ससी-भ्रम सूर-त्यौ रहति चकोरी चाहि ॥ (३४२)

बिहारी के प्रकृति चित्रण के महत्वपूर्ण दोहे उनके प्रकृति के मानवीकरण वाले दोहे हैं । इन दोहों में कवि को पूर्ण सफलता मिली है । उदाहरण के लिये कुछ दोहे दर्शनीय हैं—

शरद का मानवीकरण :—

अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग-खंजन मुख-चन्द ।

समै आइ सुंदरि सरद, काहि न करति अनन्द ॥ (४८७)

ग्रीष्म का मानवीकरण :—

नाहिन ए पावक प्रबल, लुवैं चलैं चहुँ पास ।

मानहु बिरह वसन्त कै ग्रीष्मलेत उसास ॥ (४८८)

वायु का मानवीकरण :—

लपटी पुहुप-पराग-पट सनी स्वेद मकरन्द ।

आवति, नारि नवोढ़ लौं, सुखद वायु गतिमन्द ॥ (३९२)

बिहारी ने उपदेशात्मक प्रकृति चित्रण में भी एक-दो दोहे लिखे हैं। इस प्रकार के दोहों में ३३१ तथा, ६६७ आदि दोहे दर्शनीय हैं । इसी प्रकार अलंकार विधान के रूप में भी प्रकृति का वर्णन कवि ने किया है । इस प्रकार के अनेक दोहों का सतसई में अनुसंधान किया जा सकता है । विशेष रूप से उल्लेखनीय दोहा यह है—

सोहत-ओढ़े पीतपटु-स्याम सलोने गात ।

मनौ नीलमणि सैल पर, आतपु परयौ प्रभात ॥ (६८९)

इस दोहे में पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का सुन्दर श्याम शरीर इस प्रकार शोभायमान होता है मानो नीलम पर्वत के शिखर पर प्रातःकाल की धूप पड़ रही हो ।

बिहारी ने स्वतन्त्र रूप से प्रकृति का चित्रण किया है, जिसमें प्रकृति का एक समष्टिगत प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार के दोहे बिहारी सतसई में कम ही हैं । उदाहरण के लिये—

वासन्ती मधु से आकंठ निमग्न भ्रमर-समूह स्थान-स्थान पर निद्रालु से होते फिर रहे हैं—

छकि रसाल सौरभ, सने मधुर माधुरी गंध ।

ठौर-ठौर झौरत झंपत, भौर-झौर मधु अंध ॥ (४९६)

यह प्रकृति का आलम्बन रूप का चित्र है । जो कि कवि की स्वतन्त्र चेतना का प्रतिबिम्ब है । इसी प्रकार दक्षिण-पवन का सजीव चित्र कवि ने मानवीय व्यापार एवं भावों के साथ प्रस्तुत किया है—

चुवतु स्वेद मकरन्द-कन, तरु-तरु-तर बिरमाइ ।

आवतु दच्छिन देस तें, थक्यौ बटोही बाइ ॥ (३९०)

बिहारी के श्रान्त पथिक का यह रूप अन्य कवियों द्वारा अंकित वायु के नायक रूप से निःसन्देह श्रेष्ठ है । भाव कला और स्वभाविकता का ऐसा सरसयोग बहुत कम दीख पड़ना है ।”

प्रकृति के आलम्बन रूप का एक अन्य उदाहरण भी दर्शनीय है—वासन्तिक पवन का गत्यात्मक चित्र ध्वन्यात्मक पदावली में कवि प्रस्तुत करते हुये कहता है—

भ्रमर-पंक्तियों का गुंजन ही जिसके कंठ की घण्टिकाओं की ध्वनि है, सवित होता हुआ पुष्पों का पराग ही जिसकी धनराजि है ऐसा कुंज-समीर-रूपी कुंजर-मंद-मंदगति से चला आ रहा है :—

रनित-भृंग-घंटावली, झरत दान मधुनीरु ।

मंद-मंद आवत चलयौ, कुंजर-कुंज-समीरु ॥ (३८८)

बिहारी के प्रकृति चित्रण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुंचते हैं कि बिहारी ने प्रकृति चित्रण कम किया है, किन्तु उनका प्रकृति चित्रण मार्मिक है, कहीं-कहीं मौलिक भी है, तत्कालीन परम्पराओं को समेटते हुये भी बिहारी इस क्षेत्र में सफल हुये हैं ।¹ इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इन्डिया जिल्द २, पृ० ४२३ पर अंग्रेज आलोचकों ने बिहारी के प्रकृति चित्रण की प्रशंसा में लिखा है—

He is particularly happy in his description of natural phenomena, Such as the scent-laden Greeze of an Indian Gloom, the way worn pilgrim from the weary road, but from his pollen-guest, brow headed with rose-dew for sweat, and lingering, beneath the trees, resting himself, and inviting others to repose. "....."

(निःसन्देह बिहारी प्रकृति के चित्रण में पूर्णतः सफल हुये हैं, भले ही वह मानव प्रकृति हो अथवा बाह्य प्रकृति) बाह्य प्रकृति चित्रण की एक पुरातन एवं व्यापक परम्परा रही है, बिहारी ने उस परम्परा का पूर्ण पालन किया है परम्परा का पालन करते हुये भी किसी अन्य प्रकृति के चित्रों से वे पीछे नहीं हैं । उनके प्रकृति-चित्रण की विशेषता सज्जोपाज्जता में निहित है)

२२

७ बिहारी-सतसई में प्रतिबिम्बित समाज

(साहित्य समाज का दर्पण कहा जाता है, जिसमें मानव-समाज की चेतना, क्रिया-प्रतिक्रिया, उत्थान-पतन और उसकी सर्वतोमुखी अभिव्यक्ति समाहित रहती है) साहित्य समाज की प्रगति का लेखा-जोखा होता है। इस दृष्टि से बिहारी के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हम देखते हैं कि बिहारी-सतसई में तात्कालिक समाज की सफल अभिव्यक्ति हुई है, बिहारी का सम्पूर्ण जीवन, उनके आदर्श और उनकी मान्यताओं ने सतसई में अभिव्यक्ति प्राप्त की है। बिहारी का युग शाहजहाँ का सामन्तवादी युग था, किन्तु स्वयं बिहारी एक मध्यवर्गीय परिवार में उत्पन्न हुए थे, लेकिन बिहारी की दीक्षा सामन्त-वर्ग में हुई थी, अतः उनकी मान्यतायें उनका दृष्टिकोण इन दोनों वर्गों के किनारों को स्पर्श करता है, क्योंकि उनके जीवन का अधिकांश भाग राजदरबार में व्यतीत हुआ था) बिहारी को अपने इस दृष्टिकोण पर किसी प्रकार की ग्लानि नहीं थी। वे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अपनी नागर संस्कृति के गौरव का गान करते हैं—

दे न इहाँ नागर बड़ी, जिन आदर तो आब ।

फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ, गवई-गाँव गुलाब ॥ (४३८)

इसी प्रकार बिहारी ने अपने अनेक दोहों में नागर-सम्यता का स्पष्ट चित्रण किया है, कहीं तो जयसिंह का वैभव-विलास कहीं उनकी कामक्रीड़ा, कहीं उनकी

विवशता और चिन्तन-हीनता की अभिव्यक्ति हुई है। सुरा-सुन्दरी के उपासक युग में व्यक्ति के व्यक्तित्व का यही रूप प्रतिबिम्बित हो सकता था। क्योंकि कल्पना की तूलिका को प्रोत्साहित करने वाले भी यही तत्व तो थे, एक ओर तो कलाकार इस सुरा-सुन्दरी का सहारा लेकर अपनी लेखनी को परिमार्जित करते थे, तो दूसरी ओर विलास के मादक वातावरण में उच्च वर्ग, धनी, सामन्त और शासनाधिकारी भी इनसे अछूते न थे। शाहजहाँ के शासन काल का बर्नियर, मनूची आदि यात्रियों ने जो वर्णन किया है वह इस बात का प्रमाण है कि शाहजहाँ का काल वैभव और तज्जन्य-विलास में आपाद-निमग्न था। उस काल की वेश-भूषा, मणियों और रत्नों, का प्रयोग, उस काल के भवन आदि इसके प्रमाण हैं। बिहारी सतसई के अनेक दोहों में मणियों, रत्नों सुरा-सुन्दरी और झिलमिलाती वेषभूषा, पांच तोले की साड़ी, सम्पूर्ण अंगों के उभार, और शारीरिक कान्ति की झलक देने वाले वस्त्र उस युग की विलासता के सूचक हैं। बर्नियर ने लिखा है—“मैंने शाहजहाँ के अन्तःपुर में लगभग सभी तरह के रत्न देखे हैं जिनमें कोई-कोई तो असाधारण ही है………… वे इन मुक्तामालाओं को ओढ़नी की भाँति कंधे पर पहनती हैं। इनके साथ दोनों तरफ मोतियों की कितनी ही मालायें होती हैं। सिर में वे मोतियों का गुच्छा-सा पहनती हैं, जो माथे तक पहुँचता है, और जिसके साथ जवाहिरात का बना हुआ सूरज और चाँद के आकार का बहुमूल्य आभूषण होता है। दाहिनी तरफ एक छोटा सा गोल गहना होता है जिसमें दो मोतियों के बीच एक छोटा सा लाल जड़ा रहता है। कानों में बहुमूल्य अलंकार और गर्दन के चारों ओर बड़े-बड़े मोतियों तथा बहुमूल्य रत्नों के हार पहनती हैं।”^१

बिहारी की वासक-सज्जा नायिकायें दूसरे उदाहरण रूप में देखी जा सकती हैं। बिहारी की अधिकांश नायिकाएँ आभूषणों से सुसज्जित और उनकी शरीर कान्ति (१९०), बारीक रेशमी वस्त्र (३४०), शरीर के उभार और जलचादर का रूप प्रस्तुत करने वाली शरीर कान्ति (३४०), घूँघट के बीच से झाँकता हुआ चन्द्र मुख (३०४), नायिका का मुस्कराना और मुस्कराने की चमक आँखों में चौंध उत्पन्न करती है (१००)। “बिहारी ने नायिकाओं की अनेक भंगिमाओं, चेष्टाओं, मनो-दशाओं आदि के चटकीले चित्र खींचे हैं। उन्हें घर में, घर बार में, कुंजवन में सर्वत्र शोखी से भरी हुई देखा। …… वे अपने युग के प्रति पूरी तरह से ईमानदार थे। नायिकाओं के सहज सौंदर्य और भोलेपन से उनको कुछ विशेष लेना-देना नहीं था। वे उनके अन्दाज और शोखी पर फिदा थे जो एक विशेष प्रकार के दृष्टिकोण का द्योतक था।”^२

१. 'बिहारी और उनका साहित्य' पृ० १८

२. बिहारी का नया मूल्यांकन पृ० १२३-२४

(बिहारी का युग राजा और सामन्तों के वैभव विलास का युग है, सुरा-सुन्दरी के अतिरिक्त विलास उनके जीवन का मुख्य सहारा था ।

बिहारी ने राजा जयसिंह का बहुत ही सही चित्रण किया है । राज्य की चिन्ता को छोड़ कर नव विवाहिता कली के प्रेम में डूबे हुए राजा को लक्ष्य कर कहते हैं—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिकाल ।

अली कली ही सों बँध्यों, आगे कौन हवाल ॥ (३८)

बिहारी ने राजा जयसिंह के ऐश्वर्य का चित्र भी सतसई में दिया है—

प्रतिबिम्बित जयसाह दुति दीपति दरपन-धाम ।

सब जुग जीतिन वाँ कर्यौ, कायव्यूह मनु-कम्म ॥ (१६७)

बिहारी के इस युग में मध्य वर्ग और निम्न-वर्ग की अवस्था अच्छी न थी, ये दुखी थे, सताये जाते थे, बेगार में पकड़े जाते थे । और उच्च-वर्ग कामुक, लम्पट, ठाठ-बाठ में डूब कर रहने वाला था, इन दोनों वर्गों में एक विषम खाई थी । उच्च वर्ग समाज की समस्त सम्पत्ति को आत्मसात करता जाता था और निम्न वर्ग त्राहि-त्राहि कर रहा था । इसी बीच/सं० १६७७ में अकाल भी पड़ता है उस अकाल, कुशासन, अत्याचार आदि का एक समन्वित चित्र बिहारी की सतसई में मिलता है, जो उस युग के निम्न वर्ग की, शासन की एक सफल झाँकी प्रस्तुत करता है—

दुसहु दुराज प्रजान कौं, क्यौं न बढ़े दुख द्वन्द ।

अधिक अँधेरो जग करें, मिलि मावस रवि चन्द्र ॥ (३५७)

बिहारी का समाज नैतिक हीनता की ओर उन्मुख था । हिन्दु-मुसलमान इन्द्रिय लिप्ता में डूबे हुए थे, रिश्वत खोरी बढ़ रही थी, खेलों वेश्यायों का युग था जो अपने-अपने इशारों में राजाओं, राजकुमारों और सामन्तों को नाच नचाया करती थीं । इसकी झलक सतसई के व्यापक अध्ययन से मिल जाती है ।

समाज की धार्मिक स्थिति भी इस वातावरण के प्रसार में योगदान दे रही थी । और समाज और उसकी नैतिक हीनता ने एक ओर धर्म की दुर्गति की, तो दूसरी ओर धार्मिक स्थिति ने समाज की इस पतनोन्मुख स्थिति में दो धक्के और मारे और इन दोनों का समन्वित योगदान पुष्टि मार्ग की बाल, स्वकीया और परकीया उपासना और गौडीय भक्तों के नायिका भेद को भक्ति में स्थान देने में समर्थ हुआ फिर क्या था—लौकिकता और धार्मिकता का जो रंग चढ़ा उसमें रीतिकाल की विलास

धारा पूर्णतः डूब गई। गौड़ीय सम्प्रदाय के राधावल्लभ और सखी सम्प्रदाय ने तो इस दिशा में और भी कमाल किया। इस प्रकार इस युग में राधाकृष्ण के अलौकिक प्रेम को तत्कालिक युग जीवन में उतारने की होड़ मची हुई थी। कप्तान मैकमुर्डो ने लिखा है —

“The Maharaj is the master of their property, and disposes of it as he pleases, and such is the veneration in which he is held, that the most respectful families consider themselves honoured by his cohabiting with their wives and daughters.”

बिहारी क्योंकि नागर सभ्यता के कवि थे, क्योंकि उनका निवास-आवास सामन्तों के बीच था, यह वर्ग विलास एवं ऐश्वर्य में डूबा हुआ था, रसिकता और कामुकता इनके सहचर थे, इस वर्ग का मनोरंजन करना बिहारी का ध्येय था, परिणाम स्वरूप बिहारी सतसई में नारी जीवन की अनेक चेष्टाओं और भंगिमाओं का अंकन विशेष रूप से हुआ है। जिनसे समाज के इस वर्ग को राहत मिले, उनके दिल में गुदगुदी हो—दिल को गुदगुदाने वाली और रसिकों के मन को सराबोर करने वाली चीजों से सतसई भरी हुई है। सतसई में यह प्रवृत्ति रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है।

रीतिकाल के साहित्य में मानव जीवन की इस भावना को अभिव्यक्ति देने के लिये—रीतिकालीन कवियों ने उत्सव, तीर्थ, फाग, अबीर-गुलाल, तड़ाग, उद्यान, दोला, त्योहार, वस्त्र, स्त्री-पुरुषों की लपक-झपक, आँख मिचौनी, रीझ-खीझ, वंशी आदि साधन अपनाये गये हैं। बिहारी सतसई में इन सभी के प्रायः चित्र मिल जाते हैं। उदाहरण के लिये कुछ दोहे उद्धृत हैं :—

फाग :—

ज्यों ज्यों पटु झटकति हटति, हंसति नचावति नैन ।

त्यों त्यों निपट उदारहूँ फगुवा देत बनै न ॥ (३५३)

पीठि दिये ही नैकु मुरि, कर घूँघट पट टारि ।

भरि गुलाल की मूठि सों गई मूठि सी मारि ॥ (३५०)

हिडोला :—

हेरि हिंडोरे गगन तें परी परी सी टूटि ।

धरी धाइ पिय बीच ही करी खरी रस लूटि ॥ (९९)

बरजैं दूनी हठ चढ़ै ना सकुचे न सकाय ।

टूटति कटि दुमची मचक लचकि लचकि बचि जाय ॥ (६८६)

इन दोहों में रस का लूटना, कमर का लचकना ही विशेष चीज है, जो कि उस युग की भावना को सन्तुष्ट करने वाले हैं।

आँख मिचौनी :—

दोऊ चोर मिहीचनी, खेल न खेलि अघात ।

दुरत हिये लपटाय कै, छुवत हिये लपटाय ॥ (५३०)

नायिका की चेष्टा—

भौंह ऊचै, आचर उलटि मोरि मोरि मुंह मोरि ।

नीठि नीठि भीतर गई दीठि डीठि सों जोरि ॥ (२४२)

कटि की लचक—

अहे दहेंडी जिनि धरै, जिनि तू लेहि उतारि ।

नीके है छीके हुए ऐसी ही रहि नारि ॥ (६९९)

बिहारी-सतसई में “नयन सुखिया सम्प्रदाय” के एक रूप को देखिए। सतसई में बिहारी ने बहू के रूप दर्शन की लालसा से संसार भर के पुरुषों को द्वार पर खड़ा कर दिया, वह भी किसलिए भिक्षा मांगने के लिए—

कन देवो सौँप्यो ससुर बहू थुरहथी जानि ।

रूप-रहचटें लगिलग्यो मांगन सब जग आनि ॥ (२९५)

विपरीत और सहेट-स्थल भी बिहारी की सतसई में दिद्यमान है—

सन सूक्यो बीतयो बनौ ऊखौ लई उखारि ।

हरी हरी अरहरि अजौं धर धरहरि जिय नारि ॥ (१३५)

बिहारी ने प्रेम उत्पन्न करने के ढंग का भी चित्रण किया है। जिसमें मध्य-वर्गीय जीवन की झाँकी भी मिलती है। एक नायिका पड़ोसी के यहाँ दूध जमाने के लिये जामन लेने गई है और वहाँ पर नायक के दिल में स्नेह जमाकर लौट आई है।

फेरु कछुक करि पौर तैं फिरि, चितई मुसकाइ ।

आई जावनु लैन, जिय नेहैं चली जमाइ ॥ (१४४)

नैहर जाती हुई मध्यवर्गीय नायिका की भावनाओं की अभिव्यक्ति बिहारी ने की है, जो कि उस काल के समाज की स्थिति को स्पष्ट करती है:—

“पिय बिछुरन कौ दुसहु दुःख हरषु जात प्यौसार ।

दुरजोधन लौ देखियत तजत प्रान इहि बार ॥ (१५)

बिहारी ने हास-परिहास के दोहे भी लिखे हैं जो कि तत्कालिक जीवन की झाकियाँ देने में बहुत ही सफल हुए हैं—एक वैद्य जी स्वयं तो नपुंसक थे, किन्तु किसी दूसरे व्यक्ति से बहुत सा धन लेकर और एहसान जताकर अपनी दवा की प्रशंसा करता हुआ पारद-भस्म दे रहा है, इस प्रसंग पर वैद्य जी की पत्नी मार्मिक हंसी-

हंसती है और अपने पति की ओर देखने लगती है—

बहु धन लै अहसान, कै पारो देत सराहि ।

बैद बधू हंसि भेद सों रही नाह मुख चाहि ॥ (४७९)

इसी प्रकार का एक अन्य प्रसंग भी है—

परतिय दोषु पुरान सुनि लखि मुलकी मुखदानि ।

कसु करि राखी मिश्र हूँ मुँह आई मुसकानि ॥ (२६४)

कथा वाचक को किसी परकीया से प्रेम था, श्रोताओं में पंडित जी की प्रियतमा भी थी, प्रसंगवश कथावाचक ने परस्त्री गमन के दोषों का वर्णन किया। नायिका ने आँखों में हँसकर पंडित जी को देखा, पंडित जी परिस्थिति को समझकर मुस्कराकर रह जाते हैं ।

एक ज्योतिषी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, पिता ने कुण्डली देखी पितृ घातक योग निकला, जिससे उसका हृदय दुःख से भर गया, पुनः कुण्डली देखी तब पता चला कि जारज जोग भी था, अर्थात् लड़का उनकी सन्तान नहीं है, किसी अन्य से उत्पन्न हुआ है, ज्योतिषी जी को हर्ष हुआ चलो जान बची—

चित पितुमारक-जोग गनि भयो भये सुत सोगु ।

फिरि हुलस्यो जिय जोयसी समुझ्यो जारज-जोग ॥ (५७५)

एक रसिक ने किसी सुन्दरी को देखकर उससे बहन का सम्बन्ध जोड़ लिया, इस बात को सुनते ही उसकी सखी अपनी सखी को समझाती हुई कहती है “इस बहनापे की चाल तुम नहीं समझतीं, इसके चक्कर में न फँसना। इससे कभी न कभी बहुत बड़ा अनर्थ हो जायगा। तुम अपनी तरह ही सबको सरल जानती हो। चील के घोंसले में बहुत उपाय करने पर भी मांस नहीं बचता—

बहकि न इहि बहिनापुली, जब तब बीर बिनासु ।

बचै न बड़ी सबील हूँ चील-घोंसुवा मांस ॥ (६५४)

उपर्युक्त दोहे में मध्य भुगीन समाज पर कितना मार्मिक व्यंग्य है। देवर-भाभी की हरकतें भी बिहारी सतसई में अभिव्यंजित हुई हैं—

कहति न देवर की कुबत कुलतिय कलह डराति ।

पंजर-गात मंजार-ढिंग सुक ज्यों सूखति जाति ॥ (८५)

इस दोहे की व्याख्या करते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं—“देवर अपनी भौजाई से अनुचित प्रेम करना चाहता है। पर भौजाई पतिव्रता तथा सुशीला है। अतः बड़ी चिंतित है। यदि देवर की खुटाई नहीं कहती, तो उसे भय है कि कहीं अबसर पाकर वह उसको आलिंगन इत्यादि न कर ले, और वह यदि कहती है तो भाई-भाई

में तथा देवर-देवरानी में कलह होता है। इस अड़चन में पड़ी हुई वह सूखती जाती है।

(बिहारी के इन उपर्युक्त दोहों में उच्चवर्ग, सामन्त वर्ग, वैद्य, ज्योतिषी तथा मध्यवर्गीय परिवार और सम्मिलित कुटुम्ब प्रथा आदि के चित्र अंकित मिलते हैं।

बिहारी ने परिमान, प्रसाधन और अलंकारों का उपयोग भी जमकर किया है, इन सभी के आधार पर उस युग का चित्र मिल जाता है। इस सम्बन्ध में विचार करते हुये डा० बच्चन सिंह ने बिहारी के समाज को तीन वर्गों में बांटा है—निम्न, मध्य और उच्च तीनों वर्गों में प्रयोग में आने वाली सामग्री का बिहारी ने बहुत अच्छा उल्लेख सतसई में किया है। बिहारी के युग के शृंगार का सामान्य रूप यह था—

बेंदी भाल, तंबोल मुंह सीस सिलसिलेबार ।

दृग आंजै, राजै खरी एई सहज सिंगार ॥ (६७९)

बिहारी के युग का सतसई में सफल चित्रण हुआ है, उस चित्रण का निष्कर्ष यह है—कि बिहारी सामन्ती वातावरण में रहे थे, अतः इस वर्ग का चित्रण उन्होंने बड़ी ईमानदारी से किया है। नागर सम्पत्ता में रहने के कारण नागरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रायः हुई है परिणामस्वरूप ग्राम्य सम्पत्ता अथवा ग्रामीण विचार-धारा का चित्रण करते हुये उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे सफल नहीं हैं, अथवा अन्याय पूर्ण भी हैं। बिहारी का जन्म मध्यवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था, अतः उनकी सतसई में मध्यवर्गीय परिवार की कुछ वास्तविकताओं का उद्घाटन भी हुआ है, उदाहरण के लिए ज्योतिषी, वैद्य और कथा वाचक के उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। (बिहारी सतसई में “मध्यवर्गीय परिवार की कुछ ही बातें वास्तविक ज्ञात होती हैं, अधिकांश सामन्तीय चश्मे से देखी गयी हैं। मध्यवर्ग का घेरा काफी व्यापक होता है। घरेलू जीवन की की चुल्लवाजियाँ सौतों का सापत्य द्वेष, आदि उच्च मध्यवर्ग की विशेषतायें हैं जो सामन्तीय जिन्दगी के मेल में होती थी) अतः बिहारी के समाज को देखने के लिये सामन्तीय वातावरण का बराबर ध्यान रखना होगा।”^१ ✓

बिहारी सतसई में चित्रित समाज की झाँकी देखने पर हम कह सकते हैं कि बिहारी का क्षेत्र शृंगार था, अतः उनकी सतसई शृंगारिक आयाम में ही समाज को देखती है और उसकी सफल अभिव्यक्ति करती है दूसरे बिहारी के कुछ दोहों में समाज की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गई है, सामाजिक शिथिलता को देखकर बिहारी ने

उस पर भी कटाक्ष किए हैं, दाम्पत्य जीवन और विवाह संस्था पर भी कटाक्ष करने से वे चूके नहीं और मनुष्य जीवन की दुर्बलता और उससे उत्पन्न सामाजिक व्यवहार के वैषम्य को बिहारी ने समेट लिया है। भक्ति के क्षेत्र में अलौकिकता के माध्यम से समाज में पल्लवित दृष्टिकोण पर संकेत करते हुए धर्म कर्म में पाखण्ड तथा नारी का भव छाया ग्राहिणी वाला रूप भी सतसई में मिलता है। समाज में बटमारी, चोरी डकैती आदि भी होती है। इन सब की ओर बिहारी ने यद्यपि स्पष्ट रूप से संकेत नहीं किया है किन्तु उनके उपमान इस बात के प्रमाण हैं कि उस युग में छीना-झपटी, चोरी डकैती भी होती थी:—

डारे ठोड़ा-गाढ़ गहि नैन बटोही-मार ।

चिलक-चौंध में रूप ठग हाँसी-फाँसी डार ॥ (१७)

✓कुछ परम्परा की सामग्री का आकलन करके भी यह निष्कर्ष सहज ही निकला सकता है कि बिहारी सतसई में तत्कालीन समाज की झाँकी का यद्यपि समग्र चित्र तो उसमें नहीं मिलता, किन्तु उसकी रूप रेखा का दर्शन अवश्य किया जा सकता है। आशय यह है कि सतसई में उस युग की झाँकी विद्यमान है, किन्तु वह एक विशिष्ट परिवेश के अन्तर्गत ही है।)

२३

रीतिकालीन काव्य में नारी और बिहारी

विधाता की सृष्टि में पुरुष और स्त्री दो परस्पर पूरक तत्व हैं, इन्हीं के मिलन से मानव-सृष्टि का विकास हुआ है किन्तु ये दोनों ही-भिन्न गुण, स्वभाव, और शरीर वाले होकर भी संसार के लिए आवश्यक हैं। पुरुष कठोरता, सक्रियता, शक्ति एवं शौर्य का परिचायक है और नारी कोमलता, मधुरता एवं सुकुमारता की साकार प्रतिमा। पुरुष में मस्तिष्क पक्ष की प्रधानता, कर्म की क्षमता और नारी पुरुष की सम्पूर्ण निर्ममता, कठोरता और रुक्षता को अपने स्वभाव की विशेषता से मधुर बनाने की क्षमता रखती है। नारी पुरुष की अर्धाङ्ग, उसकी शक्ति और मधुमय जीवन देने वाली है। “भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति यही दृष्टिकोण प्रधान रहा है (स्नेह एवं ममता, करुणा और वात्सल्य, उत्सर्ग और त्याग की स्वभावगत विशेषताओं के कारण माता, पत्नी, पुत्री और भगिनी के रूप में समादरणीय होकर वह रमा, जगदम्बा, एवं अन्नपूर्णा के नाम से अभिहित हुई है।)

✓ भारतीय साहित्य ही नहीं विश्व में भी नारी को महत्वपूर्ण स्थान मिला

है। साहित्य संसार में वह प्रेरक कल्पना है ^१ वह न जाने कितने काव्यों का प्राण है। उनकी जीवन श्वास है। इसके मूल में नारी का अपना व्यक्तित्व है। नारी विधाता की सृष्टि में कोमलता और सुकुमारता की आगार है। नारी अंगों को सृजन, उसके स्वर उसके हाव-भाव सभी काव्य-कल्पना के आकर्षण की वस्तु हैं। वह अपने गुणों से ही साहित्य में विविध रूप धारण कर प्रकट होती है। कहीं सहचरी, प्राण, माँ, बहन, कहीं प्रसाद की नारी तुम श्रद्धा हो और कभी कालिदास के शब्दों में — गृहणी सचिवः सखीमित्र प्रिय शिष्या... । ^२ वहीं भवभूति के यहाँ गृह लक्ष्मी, नेत्रों के लिए अमृतवर्षी तथा उसका स्पर्श चन्दन के समान है।

इयं गेहे लक्ष्मी रियममृत वर्तिनर्यनयोः ।

असावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः ॥ ^३

चिन्ते निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगान् ।

रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृतानु ॥

(यही नारी हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में दूसरे ही रूप में आविर्भूति हुई है। रीतिकाल में वह केवल अपने आङ्गिक सौन्दर्य को लेकर आई है, भक्तिकाव्य में कभी वह पूज्या और कभी उपेक्ष्या रही थी। किन्तु इतना अवश्य है कि नारी का निर्माण विधाता ने अवकाश के समय तथा सौन्दर्य के समस्त उपकरणों से सुसज्जित होकर किया है। * प्रो० नलिन की सृष्टि में “नारी श्रृष्टि की प्रथम सौन्दर्यमयी सर्वश्रेष्ठ कृति है। सृजन के आदि में विश्व उसकी गोद में क्रीड़ा करता आया है। उसकी मधुमती-मुसकान में महा-निर्माण के स्वप्न हैं और भ्रूभंग में विनाश की प्रलयकारी घटायें। नारी का महत्व है। वास्तविकता यह है युग और परिस्थितियों के अनुरूप नारी के स्वरूप और महत्व के दृष्टिकोण बनते तथा बदलते रहे हैं।

रीतिकाल में आकर कवियों का दृष्टिकोण केवल सौन्दर्य-केन्द्रित हो गया और उसका चित्रण भी एक बंधी-बधाई परिपाटी में होने लगा है। वह एक विशिष्ट नारी का चित्रण न होकर सामान्य नारी का चित्रण था। उसके हाव-भाव अनुभाव और कटाक्ष का चित्रण है, उसकी गुणगत विशेषताओं का नहीं। नारी के भोग-विलास, विरह और उसके अङ्गों का चित्रण है। रीतिकाल की राधा ऐतिहासिक

1 Man's imagination finds its greatest delight in woman and there is no shame in it.

२. रघुवंश ८/६७

३. उत्तर राम चरित ३१३८.

४. शाकुन्तलम् २/९

राधा नहीं है, वह कवि कल्पना-प्रसूत एक सामान्य नारी का चित्रण है राधा का नाम तो एक आवरण है एक प्रमाण-त्र है ।

रीतिकालीन काव्य शैली मुक्तक ने इस प्रकृति को विशेष प्रश्रय दिया क्योंकि मुक्तक काव्य में किसी विशेष नारी की चरित्रगत सम्पूर्ण विशेषताओं का चित्रण नहीं था, उसके लिए महाकाव्य या खण्ड काव्य की अपेक्षा थी, और रीतिकाल के कवि थोड़े में बहुत एक पद में असंख्य धनराशि और राजदरबार का सम्मान बटोरना चाहते थे, अतः मुक्तक काव्य के लिए एक सामान्य नारी का चित्रण ही सम्भव था, वर्ग विशेष की प्रवृत्तियों को लेकर ही लोकप्रियता प्राप्त हो सकती थी अतः रीतिकाल की कविता में नारी व्यक्ति का चित्रण न होकर नारी वर्ग Type का चित्रण है ।

रीतिकाल मुगल शासकों का काल है, चमत्कार प्रदर्शन और शृंगार इस युग की विशेषतायें हैं (शृंगार का इस काल में मादक प्रवाह प्रवाहित था काम, कादम्ब और नगमिनी इसके सहयोगी उपकरण थे ।) कृष्ण काव्य के राधा कृष्ण अपनी भक्ति और आध्यात्मिकता को तिलाञ्जलि देकर नग्न शृंगार के पोषक बन रहे थे । (कृष्ण और राधा ब्रह्म और उनकी शक्ति के प्रतीक होकर भी रीतिकाल में केवल नायक-नायिका मात्र रह गये थे और इनका इस काल के काव्य में इस रूप में व्यापक चित्रण भी हुआ है । इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति काव्य के मूल आधार है शृंगार और प्रेम जो मानव-जीवन की मूल प्रवृत्ति है ।

रीतिकाल की कविता की पृष्ठभूमि व्यापक है । संस्कृत का समग्र शृंगार साहित्य विशेषकर गोबर्धनाचार्य अमरक और हाल उनके उपजीव्य है । पुष्टि मार्ग के सिद्धान्त तथा मुस्लिम संस्कृति भी इस साहित्य की प्रेरणा भूमि रही है ।

रीतिकाल का जीवन दर्शन आदर्श और विश्वास का अभाव भी रीतिकाल की कविता को विस्तार के अवसर प्रदान करता है । “विलास प्रधान सामन्ती परम्परा में पनपे हुए जीवन दर्शन में व्यापकता न होकर विलासिता, रसिकता एवं कामुकता का दृष्टिबिन्दु प्रधान है । विषमताओं के कठोर यथार्थ से निष्कृति पाकर कवियों ने नारी के स्निग्ध आँचल की छाया में दुख एवं निराशा का परिहार किया अतः उनके काव्य में विलास की उज्ज्वल तीक्ष्ण गन्ध, अतृप्त-पिपासा, दुर्दम्य वासना विद्यमान है । :-

पियत रहत पियनैन यह तेरी मृदु मुस्कानि ।

तऊ न होत मयंकमुखी तनक प्यास की हानि ॥

मतिराम न्याबली

भावों की नवीनता, अभिव्यक्ति की मौलिकता, आदर्श की प्रांजलता तथा जीवन-शक्ति का अभाव है । इस इस्लामी सामन्ती आदर्शों पर स्थित

समाज में व्यक्ति की कोई सत्ता न थी, उसकी इच्छाओं तथा अभिलाषाओं की व्यंजना का कोई प्रश्न ही न था। एक एक दोहे पर सहस्रों मुद्राएँ पानेवाले इन कवियों का अभाव और न्यूनता, दैन्य एवं वेदना से कोई परिचय न था। जीवन के स्थायी आदर्शों के अभाव में विलास एवं ललित कलाओं के रस में अपने को लीन कर देना ही उनका साध्य था।

तन्त्री-नाद कवित्त-रस सरस राग रतिरंग।

अनबूड़े बूड़े तिरे जे बूड़े सब अंग ॥ (९४)

विलास एवं वासना प्रधान काव्य रचना करने पर भी इन शृंगारी कवियों को राधाकृष्ण से असीम अनुराग रहा। बिहारी तीर्थाटन आदि बाह्यचरों को निरर्थक बताकर राधाकृष्ण की देह द्युति से अनुराग करने का निर्देश देते हैं।

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।

जिहि ब्रजकेलि-निकुंज-मग पग-पग होतु प्रयाग ॥ (२०१)

मतिराम जैसे शृंगारी कवि नायिकाओं की रसमयी क्रीड़ा, रति-विलास में राधाकृष्ण और कृष्ण-गोपी-प्रेम ही देखते हैं। राधाकृष्ण का रसपूर्ण स्नेह जिसको सुखकर न प्रतीत होता हो, उसके नयनों में वह सहस्रों मुट्ठी धूल डालने को प्रस्तुत है।”

राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह।

परियो मुठी हजार दस ताकी आँखनि खेह ॥

मतिराम ग्रन्थावली

रीतिकाल का कवि अपनी विलास कापना की पूर्ति के लिए राधाकृष्ण के प्रेम की आड़ लेता है। तथा चारित्रिक पतन को यौवन की भूल मानकर क्षम्य भी मान लेता है।

इक भीजें चहलैं परें, बूड़ें बहैं हजार।

कितै न अवगुन जग करै, वै नै चढ़ती बार ॥ (४६१)

इसके अतिरिक्त रसिकता के इस युग में कवि विलास का भोग तथा रमणी के साथ केलि को वह साध्य तथा काम्य भी मानता है।

तिय-तिथि तरुन-किसोर-वय पुन्यकाल-सम दोनु।

काहूँ पुन्यनु पाइयतु वैस-संधि-संक्रोनु ॥ (२७४)

(रीतिकाल का कवि विलास के युग का कवि है, अतः राधानागरी से अपनी भौतिक विपत्तियों के निवारण की कामना करता है—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जातन की झाँई परें श्याम हरित दुति होइ ॥

देव भी राधाकृष्ण की वन्दना करते हुये, उनके रति शृंगार के मूर्तिमान सच्चिदानन्द रूप की स्तुति करते हैं—

राधाकृष्ण किशोर जुग पग बंदौ जग वंद्य ।
मूरति रति-शृंगार की शुद्ध सच्चिदानन्द ॥

देव भावविलास १

मतिराम भी कृष्ण के हृदय में उल्लास पैदा करने वाली राधा के मुख-चन्द्र से अपने अज्ञान का निवारण करने को कहते हैं—

मो मन तम तोमहि हरौ, राधा के मुख चन्द ।
वढै जाहि लखि सिन्धु लौं, नन्द नन्दन आनन्द ॥

आशय यह है कि (रीतिकालीन अधिकांश कवि भगवान् के शृंगारी रूप के उपसक हैं अथवा नारी राधा के । इसलिये रसराज-शृंगार के समस्त अङ्ग-प्रत्यंगों का इस काल के साहित्य में निरूपण हुआ है । नारी के भुवन-मोहक रूप की ज्वाला में इस काल के कवि जले हैं, और उसी ज्वाला से ही उन्हें शान्ति भी मिली है—

ज्यों-ज्यों पावक लपट सी, तिय हिय सौं लपटाति ।
त्यों-त्यों छुही गुलाब सों, छतिया अति सियराति ॥ (३५४)

नारी की माधुर्य-पूर्ण वाणी के समक्ष ऊख, अमृत, शहद की मधुरिमा भी कुछ नहीं है—

छिनकु, छबीले लाल, वह नहि जौ लगि वतराति ।
ऊख, महुष, पियूष की तौ लगि भूख न जाति ॥ (५०४)

रीतिकाल के कवियों के लिये नारी “प्रलोभन, प्रेम और उपभोग की वस्तु है । उसके अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य ने कवि की कल्पना और भावना को मोहाभिभूत कर लिया है । रीतिकवि नारी के भावगत सौन्दर्य जीवन के विविध पक्षों में उसके नारीत्व की मनोहर व्यजना नहीं दिखा सके, प्रत्युत नारी का सौन्दर्य, उसका आकर्षण उसके लिए मोह, आनन्द और रसिकता का विषय रहा । नारी के निर्बन्ध केश कवि को संसार बन्धनों से विमुक्त करते हैं और नील छविमान केशों की वेणी के साथ ही उसका मन बंध जाता है ।

छूटे छुटावत जगत तै सटकारे सुकुमार ।
मनु बांधत बेनी-बंधे नील छबीले बार ॥ (५०३)

सुन्दर-पुष्प-सुगन्ध के परिपूर्ण बंधुजीव पुष्प के सहोदर नारी के अधर प्रियतम के प्राणों के बंधन है ।^१

सुधा मधुर तेरौ अधर सुन्दर सुमन सुगन्ध ।
पीव जीव की बंध यह बंध-जीव को बंध ॥ मतिराम

नारी के गौरवर्ण आनन पर विकसित मृदु स्थित रेखा रस का प्रवाह प्रवाहित करती है ।

छवि को सदन गुरो बदन रुचिर भाल ।
रस निचुरत मीठी मृदु मुस्क्यानि तैं ॥ घनानन्द

रीतिकाल के कवियों को केवल नारी का कामिनी रूप ही काम्य था, उनकी कल्पना ने नारी मांसलता, कमनीयता और उभार तक अपना चमत्कार प्रकट किया है । अन्तर में पहुंचने का उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया । नारी के नेत्रों की चितवन, अपाङ्गता, प्रेम-क्रीड़ा-कथन, विरह वेदना का वर्णन ही इनका उद्देश्य रहा है । इन नारियों में सेवाभाव, त्याग, बलिदान, पातिव्रता-सात्विकता का कहीं दर्शन नहीं होता, इसके विपरीत वे निर्वसना, विलासवती अभिसारिका हैं, जो अपने अङ्गों का यत्र-तत्र प्रदर्शन करती है—

भौंह उँचै आँचरु उलटि मोरि मोरि मुहु मोरि ।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि ॥ (२४२)

(इस युग की नारी की शोभा उसकी सुकुमारता और कमनीयता में है, भूषण तो उसे भार प्रतीत होते हैं ।

भूषन भार संभारिहैं क्यों यहि तन सुकुमार ।
सूधे पाइ न धर परै, शोभा ही के भार ॥ (३२२)

रीतिकाल की नारी में गृहणी की गम्भीरता की अपेक्षा क्रीड़ा और आमोद है । बिहारी की नायिका सहेट-स्थल के नष्ट होने के कारण दुःखी है ।

फिरि-फिरि विलखीहैं लखति फिरि फिरि नेत उसासु ।
साई ! सिर कच सेत लौं बीत्यौ चुनति कपासु ॥ (१३८)

